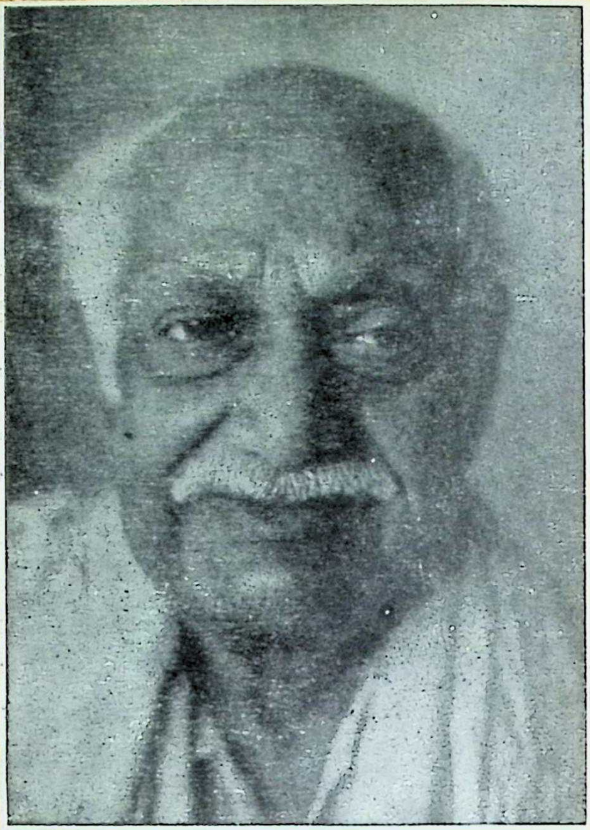

तन्त्राचार्य गोपीनाथ कविराज

और

योग - तन्त्र - साधना

रमेशचन्द्र अवस्थी

म. म. पं. गोपीनाथ कविराज

और

योग-तन्त्र-साधना

रमेशचन्द्र अवस्थी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

M. M. PANDIT GOPINATH KAVIRAJ
AUR
YOGA TANTRA SADHANA

by

Ramesh Chandra Awasthi

ISBN-81-7124-062-3

प्रथम संस्करण : १९९० ई०

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक
शीला प्रिण्टर्स, लहरतारा, वाराणसी

पूज्य परमहंस दुग्धाहारी महाराज

समर्पण

आजीवन योग विभूतियों से
अभिभूत आज भी जिनकी
पावन-स्मृति मुझे
भावविह्वल कर देती है,
उन परम शिव अखण्ड सच्चिदानन्द
ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु परमहंस
श्री १००८ श्री दुग्धाहारी महाराजजी
के
पूजनीय कमल चरणों में सादर

—दीन लेखक

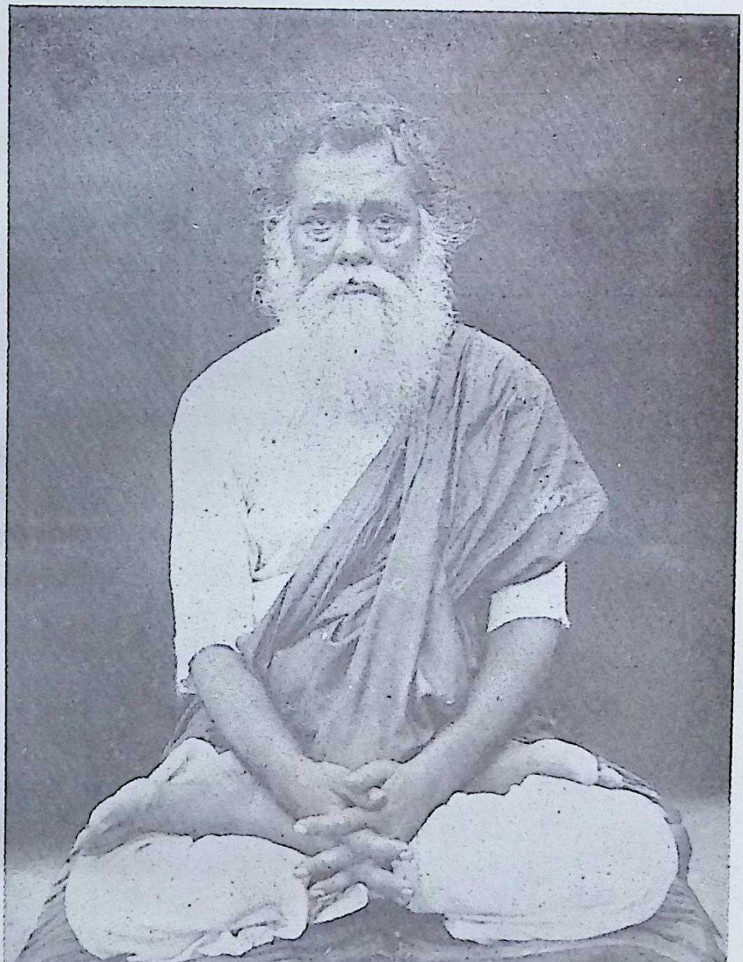

योगिराजाधिराज
स्वामी विशुद्धानन्द परमहंस

महामहोपाध्याय
पण्डित गोपीनाथ कविराज

भूमिका

सिद्धियों के सम्बन्ध में परिचर्चा करते हुए पूज्यचरण कविराजजी ने लिखा है, "मायातीत शुद्ध विद्या अथवा सरस्वती का आश्रय करके जिन सिद्धियों का उदय होता है, उनका नाम तत्त्वमूलक परासिद्धि है। लौकिक कामों के लिए जिन सिद्धियों की जरूरत होती है, उन्हें अपरा सिद्धि कहते हैं। परा-अपरा दोनों ही खण्ड सिद्धियां हैं—महासिद्धि ही श्रेष्ठतम है, जिनमें पहली है समलीकरण, दूसरी शिवत्व लाभ अथवा परम शिव की अवस्था। यही वास्तविक पूर्णत्व है। इस अवस्था में पूर्ण स्वातन्त्र्य आता है। इच्छा मात्र से भुवनरचना या विश्वरचना की शक्ति आती है। पंचकृत्यकारिता का आविर्भाव इसी समय होता है।

"बौद्धमत में सुखावती की रचना अमिताभ बुद्ध द्वारा हुई थी, ऐसी प्रसिद्धि है। विश्वामित्र की संसार-सृष्टि का वर्णन शास्त्र में है। तान्त्रिक अध्यात्म दृष्टि का लक्ष्य इसी परिपूर्ण अवस्था को पाना है, मात्र स्वर्ग आदि पूर्वलोक और लोकान्तर में गति अथवा कैवल्य या निरंजन भाव की प्राप्ति या मायातीत अधिकारी का पद पाना ही नहीं। मनुष्य मात्र में यह अवस्था पाने की स्वरूपयोग्यता है। यही तान्त्रिक सृष्टि का अवदान है।"

प्राचीन आर्य लोगों में यह धारणा भी न थी कि सभ्य समाज का मनुष्य बिना ज्ञान, विद्योपार्जन अथवा देववाणी संस्कृत में बाह्य भाव से स्तुति या उपासना न करके केवल प्राण क्रिया संयम के द्वारा, मात्र इच्छा करने पर भी एक साधारण मानव के लिए ईश्वर के साथ युक्त होने का सशक्त उपाय है। शिव के इसी योग पंथ का दूसरा नाम तन्त्र है। तन्त्र की अद्भुत शक्ति प्रत्यक्ष करने के पश्चात् ही आर्य ब्राह्मणों ने शिव को देवतारूप में स्वीकार तथा ग्रहण किया था। शिव को पाकर आर्य सभ्यता गौरव के सर्वोच्च शिखर पर उठ गयी थी। यह तन्त्र विद्या अपूर्व वैज्ञानिक भित्ति पर स्थापित है।

समष्टि में तन्त्रधर्म कहने से शिव द्वारा प्रचारित शक्ति उपासना ही मान्य है। योग का इस साधना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह तन्त्रधर्म इतना उदार है कि इसमें आर्य, अनार्य आदि सभी साधारण व्यक्तियों को प्रवेश पाने का अधिकार है। यह तन्त्रधर्म ही वास्तव में सार्वजनीन धर्म है, जो सार्वभौमिक मानव समाज के लिए उपयोगी है। इसीलिए एक समय यह धर्म सारे भारतवर्ष में प्रसारित था। वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म में जब चारों ओर विधि और निषेध के द्वारा प्रवेश वर्जित था तब यह धर्म वैदिक धर्म के प्रतिपादस्वरूप सारे भारत में फैला। शिव का कथन है कि स्वस्थ, सबल, तथा रोगहीन शरीर द्वारा युवावस्था से ही इसकी साधना आरम्भ होती है। तन्त्रधर्म के साधन विशेषतः अध्यात्म धर्म के लिए यह प्रशस्त समय माना गया है। शिव के विचार से जाति कहने से स्त्री और पुरुष मात्र दो ही जातियां मनुष्य की मानी गयी हैं। इसके अलावा मनुष्य समाज के बाहर पशु, पक्षी, कीट, उद्भिज आदि की भांति जाति मानी गयी है। मनुष्य समाज में कर्म के अनुसार जो जाति-प्रथा प्रचलित है,

। उसे वृत्ति कहना अधिक संगत है। शिव की दृष्टि में हरिजन, क्षत्रिय या ब्राह्मण एक ही है। उनके पास पहुँचने के लिए एक ही आसन पर बैठना होगा।

शिव के अनुसार जीव मात्र ही मोक्ष का अधिकारी है। स्त्री और पुरुष दो जातियाँ होने पर भी उनके अधिकार समान हैं। अकेले स्त्री या पुरुष अधूरा है—असम्पूर्ण सत्ता मात्र। नारी और पुरुष दोनों ही प्रणय में आवद्ध सृष्टि कार्य में सक्षम होने पर एक पूर्ण सत्ता होते हैं। दोनों का सम्मिलित जीवन ही साधना का अधिकारी है। अकेले संसार साधन अस्वाभाविक है। नारी और नर का मिलित जीवन ही संसार है। इनकी प्रथम प्रवृत्ति है सृष्टि अर्थात् प्रजासृष्टि। इसकी प्रधान उपयोगिता है शक्ति लाभ करके उच्चतर शक्तियों के विकास के फलस्वरूप कर्म एवं भोग और बाद में आत्मज्ञान का प्रसार और मोक्षमार्ग में गति। इतना समझ लेना आवश्यक है कि सब कुछ ही प्रकृति को ही अवलम्बन करके होगा। तन्त्र के मत से साधन और पशु जीवन के भोग, सभी सहज सरल प्राकृतिक नियमानुसार होते हैं। जीव के जीवन में कर्मप्रवृत्ति जटिलता की सृष्टि करती है, क्योंकि इस कर्म के फलस्वरूप क्रम से प्राकृतिक नियमों के द्वारा ही गति होती है, जो कि बाद में जीव को ऊर्ध्व या अधोगामी करता है। इसीलिए इस धर्म में मनुष्य संयत भाव से भोग के साथ साधन को लेकर चलता है, जिसके फलस्वरूप निवृत्ति होती है। वास्तविक ज्ञान का उन्मेष होता है तथा जीव यथार्थ साधन के फलस्वरूप मुक्ति का अधिकारी होता है। बार-बार दुःखमय जीवन, जन्म, जरा, मृत्यु तथा नाना भाँति के दुःखमय कर्मों से निवृत्ति ही मुक्ति है। साधन द्वारा क्षुद्र स्वार्थमय अनुभव का विनाश ही निवृत्ति है। जीव का स्वरूप है सच्चिदानन्द शिव, इसी बोध की प्रतिष्ठा ही साधना का फल है।

सांख्य के मत से इस सृष्टि में जैसे प्रकृति ही श्रेष्ठ है, पुरुष निष्क्रिय है, उसी प्रकार शिवोक्त तन्त्र में भी कहा गया है कि सृष्टि, स्थिति, लय की अधिष्ठात्री एवं चतुर्वर्ग फलदात्री या आद्या शक्ति भगवती स्वयं है, अन्य किसी में वह शक्ति नहीं है जो जीव को मुक्ति प्रदान कर सके। वैदिक देवता की उपासना भी प्रकृति या शक्ति की ही उपासना है, क्योंकि जीव अर्थात् मनुष्य के बोध में जो यह पुरुष और नारी है, यह दोनों ही प्रकृति या शक्ति ही हैं, जिसको ब्रह्म, आत्मा, भगवान् या ईश्वर कहा जाता है। वह शक्ति की ही अनुभूति है। वैदिक देवता, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि को पुरुष कहा गया है, किन्तु वास्तव में इनकी मूल प्रकृति के अन्तर्गत प्रत्येक विभिन्न क्षेत्र में शक्ति ही केन्द्रस्थ है। इसको लेकर चाहे जितना विवाद किया जाय वास्तव में प्रकृति के इस विशाल साम्राज्य अथवा सृष्टि के अन्तर्गत मानव जीव के लिए ब्रह्म या पुरुष जिस प्रकार धारणा के अतीत है, आद्याशक्ति या प्रकृति—सृष्टि की अधिष्ठात्री जो महामाया या महाशक्ति है, वह भी जीव की धारणा के अतीत है।

शिव ने समझा था कि वैदिक देवता की उपासना वास्तव में प्रकृति या शक्ति की उपासना है, इसीलिए वे अन्य मार्ग में न जाकर प्रारम्भ से ही मूल प्रकृति को ही—जिसको देवता लोग जगदम्बा या विश्व जननी के रूप में स्तुति करते हैं, को ही जीव मात्र का इष्ट बताकर उसकी ही उपासना के लिए जीव को उद्बुद्ध किया था। हम लोगों के अन्दर नारी

और नर का यह बोध इस तरह जटिल भाव से मिश्रित हो गया है कि हम लोग वास्तविक प्रकृति जो कि इस सृष्टि के मूल में इस विश्व-जगत का प्रसव, रक्षण एवं परिवर्तन कर रही है, उसे तथा उस एक मात्र पुरुष को जो प्रकृति के अतीत अव्यय चेतना या परमात्मा है, दोनों के ही स्वरूप निर्धारण करने में चिर वञ्चित हैं।

तन्त्र-शास्त्र में क्रम विकास का अपूर्व समर्थन है। तन्त्र में विवर्तनवाद केवल वादानुवाद ही नहीं है, एक जीवन्त सत्य है। हम लोग मानव समाज के मध्य जिन्हें निम्न स्तर का समझते हैं, वास्तव में हमारी यह गलत धारणा है। शिव कहते हैं कि सबसे निम्न स्तर का व्यक्ति वह है जिसमें मात्र देहात्म बुद्धि है, अर्थात् जो केवल शरीर को ही सब-कुछ समझता है—पशु उसका दूसरा नाम है।

इसके बाद परमा प्रकृति है, जो चराचर विश्व की केवल नियन्ता ही नहीं अपितु स्रष्टा भी है। मनुष्य के मन और बुद्धि तथा उसकी कल्पना चाहे जितनी दूर तक प्रसारित हो, प्रकृति के राज्य को छोड़कर आगे नहीं जा सकती, 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई' ठीक ही कहा है, इसीलिए परम गुरु शिव ने समझा था कि आर्यों का देवतावाद घूम-फिर कर अन्त में प्रकृति राज्य में ही आयेगा। इसीलिए उन्होंने योग-शास्त्र के द्वारा प्रकृति को सीधे पकड़ने का कौशल दिया था, जिसका लक्ष्य है प्रकृति के राज्य को छोड़कर चैतन्य राज्य में प्रवेश का लाभ, क्योंकि आद्या शक्ति या प्रकृति के हाथ में जीव की मुक्ति की चाभी है। तन्त्र में शिव ने इसीलिए प्रकृति का अनुगामी होकर ही साधन-पथ में चलने का उपदेश किया है जो सार्वजनीन सहज मार्ग है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन तीन आदि सृष्टि, स्थिति और लय के देवताओं में किसी को पकड़ने पर उस प्रकृति के ही अंश को पकड़ा गया है, क्योंकि मनुष्य के मन में जो पुरुष और प्रकृति की धारणा है, उसे प्रकृति ही समझना होगा। तन्त्र की साधना समस्त मानव समाज अर्थात् समस्त जगत के अधिकारी मानव समाज को लेकर है। अति स्थूल बुद्धि मानव से ही इसका प्रारम्भ है। शिव ने विश्व के कल्याण के लिए निम्नतम स्तर के मानव से लेकर सर्वोच्च स्तर के मानव पर्यन्त सबको अपने पथ की ओर आकर्षित किया है। तन्त्रमत से मानव पहले पशुधर्मी, बाद में वीर, फिर होता है देवता। शिव कहते हैं तुमको किसी देवता की प्रथम उपासना नहीं करनी होगी। तुम्हारी क्रमोन्नति ही तुमको देवत्व में प्रतिष्ठित करेगी, यदि तुम प्रकृति के अनुगामी होकर चलोगे। परमात्मा तथा शिवत्व में प्रतिष्ठित होना ही मानव जन्म की सार्थकता है।

अतः यह द्रष्टव्य है कि अन्त में वैदिक अथवा तान्त्रिक दोनों ही प्रणालियाँ एक हैं; अब वैदिक धर्म में शिव का प्रभाव है या नहीं, इसको लेकर कुछ विवाद है किन्तु जितने बड़े वेदान्तिक हैं, वह सभी शैव हैं। इनमें शंकराचार्य का नाम पहले ही आता है; क्योंकि वह ऐतिहासिक पुरुष हैं और युगावतार कह कर उनकी प्रतिष्ठा हुई है।

मानव के अस्तित्व के पीछे एक रहस्यमय शक्ति है—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। मानव के विचारों की उत्पत्ति व चेतना के विकास का मूल कहाँ है? इस रहस्यमय शक्ति का विवेचन सैद्धान्तिक रूप से नहीं किया जा सकता, हाँ, अनुभवगम्य अवश्य है। ज्ञान मस्तिष्क के अन्तर्गत है या विचार मन से उठते हैं, किन्तु अनुभव मन, प्रज्ञाबुद्धि और भावुकता से परे

है। अनुभव परिभाषित नहीं किया जा सकता और न वह किसी संप्रेषण क्रिया का ही परिणाम है। अनुभव काल व अन्तराल (Time and Space) की सीमाओं से परे है।

इस रहस्यमयी शक्ति की खोज तन्त्र ने किया है। तन्त्र की चालू परिभाषा जादू-टोना, कामवासना का उदात्तीकरण या भूमिगत आध्यात्मिक साधना है, जो वास्तविकता से परे है या यों कहें कि तन्त्र का विकृत स्वरूप है जो भौतिकता से प्रेरित अपरा तन्त्र के अन्तर्गत है। वास्तव में तन्त्र का शाब्दिक अर्थ शक्ति स्वातन्त्र्य और चेतना का विकास है। व्यक्तिगत चेतना के विकास की प्रक्रिया तन्त्र का एक अंग है। हमारा व्यष्टि मन सीमित है और एक क्षेत्र पर ही आधारित है क्योंकि हम वहीं तक देख-सुन सकते हैं, जहाँ तक हमारी कर्मेन्द्रियाँ—आँख, कान की शक्ति—साथ देती हैं। ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म वस्तुओं को हम नहीं देख पाते और न ध्वनि तरंगों को ही सुन सकते हैं। अतः मन सीमित दायरे में ही काम करता है। मन के इस सीमा-बन्धन को तोड़ना है तभी वह असीम में डूबकर अनन्तता का अनुभव कर सकता है, किन्तु मन की गति दी हुई सूचना पर निर्भर है। यदि आप का तर्क या निर्णायक शक्ति समुचित सहायता नहीं करती, तो बुद्धि काम नहीं करेगी। इन शृंखलाओं को तोड़ने का एक मात्र उपाय है मन का विकास जो तान्त्रिक तकनीक से ही सम्भव है। मन को पृथक करके इसकी गति अवरुद्ध करने के लिए मन्त्रविज्ञान समझना आवश्यक है, तभी मन विकसित किया जा सकता है। मन अपने भीतर की सुषुप्त शक्तियों के जाग्रत करने की प्रक्रिया है। मन्त्रजप व्यक्तिगत चेतना की अभ्यास क्रिया के अनुसार नयी दिशा देता है। मन्त्रजप से कभी-कभी गुञ्जायमान सीधी तथा लयबद्ध ध्वनितरंग उत्पन्न होती है जो व्यक्तित्व के आन्तरिक ढाँचे को सीधे प्रभावित करती है। इन ध्वनितरंगों से विद्युत शक्ति पैदा होती है। मन की गहराइयों में प्रत्येक मन्त्र की ध्वनि किसी-न-किसी परिमाण में ऊर्जा उत्पन्न करती है, और इस ध्वनितरंग का एक अपना आद्यप्ररूप (archetypes) होता है। ॐ हमारी चेतना का ही विस्तार है। इसके उच्चारण से ज्यामिति का ही एक नमूना बनता है। हर ध्वनि वृत्ताकार, त्रिकोण, आयत, षट्कोणीय आदि नये-नये आकार बनाती है। आकृतियाँ मात्र काल्पनिक नहीं हैं, अपितु ध्वनियों के आद्यप्ररूप (archetypes) हैं। मन्त्र का आद्यप्ररूप ही मन्त्र कहलाता है।

मन्त्र और ध्यान साथ-साथ चल सकते हैं, किन्तु मन्त्र ध्यान का अस्त्र नहीं है। मन्त्र का ध्येय है पूरे शरीर, मन व आत्मा को स्पन्दित करना। तान्त्रिक प्रक्रिया में संस्कारों, संस्मरणों व भावनाओं को दबाया नहीं जाता, इनके साथ खेला जाता है। इनके दबाने से साधक के व्यक्तित्व में आन्तरिक द्वन्द्व के फलस्वरूप मानसिक रोग पैदा हो सकता है। मन के सभी विचारों का सतत बोध रखने से किसी समय साधक भावातीत स्थिति का अनुभव कर सकता है। मन के बन्धनों को तोड़कर इसे स्वच्छन्द गति में प्रवाहित करना है। वास्तव में मन साधक की समस्या नहीं है, अपितु, साधक स्वयं मन की समस्या है जो नित नूतन अनुभवों की प्रतीक्षा करता रहता है।

तन्त्र शक्ति-स्वातन्त्र्य की ऊर्जा से युक्त होने की प्रक्रिया है, जिससे इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य मात्र का ही यह सौभाग्य है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त इस निरपेक्ष ऊर्जा की खोज करे। यही विन्दु है। वृत्त की परिधि में काल और अन्तराल (Time and

Space), लक्ष्य (object) और भावातीत चेतना है । और केन्द्र में विन्दु है जो कि उस निरपेक्ष सत्ता का द्योतक है । इस ब्रह्माण्ड की वास्तविकता है काल, अन्तराल, लक्ष्य तथा अन्तिम विन्दु की अतीतावस्था या अतींद्रियता । तन्त्र में विन्दु ही प्रमुख है । सारा ब्रह्माण्ड ही विन्दु का विकास है । विन्दु अनन्त है जिसका विभाजन असंख्य विभागों में होता है । विन्दु (आज्ञाचक्र) पर ध्यान केन्द्रित करने से काल तथा अन्तराल दोनों एक दूसरे के निकट आ जाते हैं अन्यथा वह एक दूसरे से बहुत दूर हैं । यह दोनों ही मन के अन्तर्गत हैं । काल और अन्तराल मन की चरित्रगत विशेषताएँ हैं । यदि काल और अन्तराल नहीं है तो मन भी नहीं है । ध्यानावस्था में दोनों ही युक्त हो जाते हैं, एक है शिव दूसरा शक्ति, दोनों का सामरस्य । काल और अन्तराल दोनों ही बिजली के तार हैं, एक धनात्मक (positive) तथा दूसरा ऋणात्मक (negative) । दोनों के मिलने से चमक पैदा होती है । दोनों बिन्दु के निकट लाते ही बम का-सा विस्फोट होता है । यही विस्फोटित ऊर्जा ही तन्त्र में आत्मा कहलाती है ।

किन्तु पदार्थ का उदर है । समष्टि मन के दो किनारे हैं काल और अन्तराल । मृत्यु के समय ही हम इन दोनों से छुटकारा पाते हैं और इनसे निवृत्ति पाने के लिए आध्यात्मिक साधना या ध्यान से सम्बद्ध होते हैं । किन्तु (आज्ञाचक्र) पर केन्द्रित ध्यान से दोनों निकट आ जाते हैं । जब यह विस्फोटक जागरण (explosive awakening) होता है तो समष्टि मन बिखर कर अगणित टुकड़ों में बँट जाता है । यह नीहारिका (nabulae) बनता है जिसका हर कण ही पूर्ण विन्दु या पूर्ण सत्ता है । ठीक जैसे एक एटम (atom) सहस्रों टुकड़ों में बिखर जाता है । चेतना विकास के इस क्रम में साधक परमात्मस्वरूप हो जाता है । तन्त्र का यही अन्तिम लक्ष्य है और परातन्त्र की यही उपलब्धि ।

परमहंस विशुद्धानन्दजी तथा उनके शिष्य कविराजजी दोनों ही ऊर्ध्वलोक के अवतरित महापुरुष भारत के लिए ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के लिए इस शताब्दी की विशिष्ट देन हैं । कविराजजी की आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में अधिकांश विद्वान व जिज्ञासुगण सभी अनभिज्ञ हैं और नाना प्रकार की अटकलें लगाते हैं, यही कारण है कि इस सम्बन्ध में उनकी चर्चा बहुत कम हुई है । कविराजजी के सम्बन्ध में उनके पाण्डित्य तथा आगमतन्त्र के उद्धारक रूप की विशेष ध्वनि उभारी गयी है । कविराजजी को उनके सद्‌गुरु ने दीक्षा देने की आज्ञा नहीं दी थी, अतः वह इस दिशा में अपने सम्पर्क में आये केवल जिज्ञासु व्यक्तियों को ही निर्देश, परामर्श तथा संरक्षण देते थे । यही कारण है कि उन्होंने अपना सारा आध्यात्मिक चिन्तन व अनुभव अपने ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से सविस्तार लिख दिया है । इसकी विशद चर्चा उनके विशिष्ट ग्रन्थ 'तान्त्रिक वाङ्‌मय में शाक्त दृष्टि' में मिलेगी । उनके इस आध्यात्मिक चिन्तन से यह निष्कर्ष निकलता है कि बाबा ने गुरुराज्य ज्ञानगंज की आत्म क्रिया योगतान्त्रिक ध्यान प्रणाली कविराजजी को दीक्षा रूप में दान किया । बाबा अधिकांश शिष्यों को बाह्य सुषुम्ना दण्ड आदि अवयवों के माध्यम से देते थे, ऐसा देखने में आया है । अपने आश्रितों, सेवकों तथा जन्मभूमि के विशेष प्रियजनों के योग-क्षेम के वहन करने की उनकी तीन पीढ़ियों तक का उत्तरदायित्व ले लिया था । वे महान सक्षम योगी थे तथा ज्ञानगंज के सिद्ध योगी

परमहंस भृगुरामदेवजी द्वारा समष्टि मुक्ति का महा संकल्प पूर्ण करने के लिए ही इस धरती पर अवतरित कराये गये थे। यह जानकारी मुझे बाबा की जन्मभूमि पश्चिम बंगाल के बर्दवान जनपद के वंडुल ग्राम में मिली। वंडुल ग्राम आश्रम में बाबा ने ज्ञानगंज सिद्धलोक की वार्णलिंग की मूर्ति स्थापित की है जिसके दर्शन के लिए प्रायः उस लोक से आज भी रात्रि में महात्मा आते हुए देखे गये हैं। यही स्थिति उनके द्वारा स्थापित नवमुण्डी आसन में भी है। वाराणसी स्थित विशुद्धानन्द कानन आश्रम में भी यही स्थिति है जहाँ बाबा स्वयं कभी-कभी सशरीर देखे गये हैं। दोनों आश्रम के सेवकों-पुजारियों की यही धारणा दृढ़ है कि उन्हें तीन पीढ़ियों तक किसी प्रकार के अन्तः कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। बाबा के संरक्षण की यह अटूट श्रद्धा उनके हृदय में बस गयी है। कविराजजी ने अनेक सिद्ध महात्माओं, साधु-सन्तों से सम्पर्क-सत्संग करने के पश्चात् इस ध्यान प्रणाली को अधिक वैज्ञानिक, सक्षम और निरपेक्ष बनाया। इसका रहस्य उनके ही ग्रन्थों में भली भाँति उद्‌घाटित कर दिया गया है। प्रस्तुत लेखों में कबिराजजी की इसी तान्त्रिक साधना प्रणाली का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है तथा योगतन्त्र के बिभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे जिज्ञासु व्यक्तियों की आध्यात्मिक शंकाओं का समाधान तथा मार्ग-दर्शन मिलेगा यह मेरा विश्वास है।

दूसरी विशिष्ट चर्चा 'अखण्ड महायोग' के सम्बन्ध में की गयी है। अखण्ड महायोग कोई साधन-पद्धति नहीं है। वास्तव में इस विशिष्ट तान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा कविराजजी ने अपने सद्‌गुरु परमहंस विशुद्धानन्द से काया दान पाकर उनके मूल उद्देश्य—समष्टि मुक्ति की उपलब्धि की और पूर्ण रूप से सफल हुए। इस प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण कविराजजी के लेख 'कर्म और सेवा का इतिहास' में मिलेगा। इस 'अखण्ड महायोग' का मूल आधार था 'कुमारी सेवा'। कविराजजी की 'अखण्ड महायोग' मूल बंगला पुस्तक सन् १९५६ में प्रकाशित हुई थी। हिन्दी में प्रथम बार इसका अनुवाद १९७९ ई० में प्रकाशित हुआ था, जिसमें से यह लेख निकाल दिया गया था। वास्तव में समष्टि मुक्ति के लिए किये गये महापुरुषों के अब तक के प्रयासों की अन्तिम कड़ी तथा अरविन्द के योग की पूरक तान्त्रिक प्रक्रिया का समन्वय ही अखण्ड महायोग की आधारशिला है। कविराजजी अपने कृतित्व की इस दिशा में पूर्ण रूप से आशान्वित हैं। उनका कहना है कि अब मात्र माँ को दीन सन्तान भाव से पुकारना ही अवशेष है। इस लेख का मूल बंगला से अनुवाद किया है मेरे अग्रज सुप्रसिद्ध साहित्यकार अमृतलालजी नागर ने जिनका पार्थिव शरीर अभी हाल ही में हमारे बीच से उठ गया। इसे प्रकाशित करके उन्हें श्रद्धाञ्जलि देकर शत-शत नमन करते हैं। नागरजी भी इस धारा में दीक्षित थे। मुझे याद है सन् १९८३ ई० में ही ध्यान की इस प्रक्रिया में प्रवेश पाने के बाद ही उन्होंने कहा था कि 'अब मेरी लेखनी की दिशा बदल जायगी।'

कविराजजी द्वारा प्रणीत बहुत-कुछ बंगला साहित्य अब तक हिन्दी में अनूदित नहीं हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी में तो इस दिशा में कोई प्रयास ही नहीं हुआ। यह कार्य दुरूह तथा श्रमसाध्य है। यही कारण है कि कविराजजी की चर्चा विश्व स्तर पर नहीं हुई। लगभग १५ वर्ष पूर्व सन् १९७५ ई० में अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध लेखक फ्रिट्ज कापरा की

विश्वचर्चित पुस्तक (The Tao of Physics) प्रकाशित हुई है, जिसमें वर्तमान भौतिक शास्त्र तथा पूर्वी रहस्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। कापरा ने यदि कविराजजी का अनुभवपरक आध्यात्मिक साहित्य पढ़ा होता, विशेषकर उनके ग्रन्थ 'स्व संवेदन' को, तो उसे इस ग्रन्थ के लिखने में असाधारण सफलता मिलती। इस कोटि की रचनाओं को प्राचीन ऋषियों ने विवेक-वाणी की आख्या दी है। इस प्रकार की कृतियाँ भाव राज्य के इस पथ के अनुसरणकारी साधकों के लिए उपयोगी हैं तथा शुद्ध विकल्प निर्विकल्पक पद की पथ-प्रदर्शक हैं।

मैं अपने सभी मित्रों तथा सहयोगियों विशेषकर सर्वश्री डा० ताराकान्त, र० उपासनी, गोपालकृष्ण खन्ना, विजयकुमार तिवारी 'प्रकाशानन्द' तथा संस्थान के सहकर्मियों सर्वश्री घोषाल दादा, श्रीनारायण मिश्र, रमेशचन्द्र गुप्त, जनार्दन, ललितमोहन मिश्र तथा हरिमोहन सिंह यादव को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने ग्रन्थ की परिचर्चा में रुचि लिया तथा संस्कृत व बंगला की कुछ सामग्री भी सँजोयी। इस पुस्तक के प्रकाशक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इतने कम समय में इसका सुचारु रूप से प्रकाशन किया।

चैत्र शुक्ल
रामनवमी, सं० २०४७ वि०
३ अप्रैल, १९९०

रमेशचन्द्र अवस्थी
४४ डी, कैण्ट रोड
लखनऊ-२२७००१

अनुक्रमणिका

१. महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज १
२. तन्त्र का विकास-क्रम तथा पञ्चमकार-साधना—परातन्त्र ११
३. नवार्ण मन्त्र-सन्दर्भ तान्त्रिक परिवेश १६
४. दीक्षा-तत्त्व-तान्त्रिक सन्दर्भ १९
५. दीक्षा-तत्त्व में शाक्त-दृष्टि २२
६. अवधारणा समष्टि-मुक्ति की—अखण्ड महायोग २५
७. श्री दुर्गा सप्तशती—योग-तांत्रिक परिचय २९
८. रासलीला–'योग-तान्त्रिक-प्रणाली' ३३
९. योग-निद्रा एवं स्वप्न-विज्ञान-तन्त्र ३९
१०. सर्वमुक्ति के सक्रिय पोषक कविराजजी ४४
११. मानस में शाक्त-दृष्टि ४८
१२. सुन्दरकाण्ड—सिद्धियों का साक्ष्य ५१
१३. कुमारी-सेवा-प्रक्रिया ५५
१४. पञ्चमकार साधना (परातत्त्व) ५९
१५. अखण्ड महायोग की पृष्ठभूमि और भविष्यवाणियाँ ६२
१६. तत्त्व कथा—एक विहंगम दृष्टि ६६
१७. पुरुषार्थ के साधन ७२

परिशिष्ट

१. कर्म और सेवा का इतिहास ७५
२. अखण्ड महायोग ८८
३. ध्यानावस्था—एक विश्लेषण ८९
४. चिन्तन के क्षणों में ९३
५. बाबा विशुद्धानन्द की लोक-शिक्षा ९६
६. अध्यात्म साधना में जप का स्थान ९९
७. महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज के ९९वें आविर्भाव दिवस पर हार्दिक श्रद्धांजलि १०१
८. आत्म कियायोग—तान्त्रिक ध्यान प्रणाली १०३

योग-तन्त्र-साधना

बीसवीं सदी का विराट् व्यक्तित्व

महातन्त्रयोगी महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

महापुरुष अधिकांश निजी लोकलीला प्रकाशित नहीं कराना चाहते। लगभग तीस वर्ष पूर्व सन् १९६१ में प्रयाग क्षेत्र के सुविख्यात सिद्ध महात्मा परमहंस दुग्धाहारी की योग-विभूतियों के प्रति समर्पित तथा उनकी अगाध अनन्त करुणा से कृतकृत्य मैंने अनुभव किया कि 'महाराज, मेरी इच्छा है कि आपकी जीवन-गाथा लोककल्याण के लिए प्रकाशित करूँ।' निस्पृह तटस्थ भाव से उन्होंने उत्तर दिया, 'अभी नहीं, इस शरीर के न रहने पर ही सम्भव होगा।' तपोनिष्ठ मनीषी म० म० पं० गोपीनाथ कविराजजी से उनके घनिष्ठ अनेक गण्यमान विद्वान् कई बार प्रार्थना करने पर भी उनकी जीवनी नहीं पा सके। बहुत दिनों के बाद प्रो० भगवतीप्रसाद सिंह के निरीह आग्रह पर द्रवित उन्होंने निजी संग्रह से सामग्री दी जिसके आधार पर उनकी जीवनी, अचिन्त्य महाशक्ति की एक लीला 'मनीषी की लोकयात्रा' की रचना हुई। इसमें उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों, मन्तव्यों, विचारों एवं निष्कर्षों का विवेचनात्मक परिचय है। उनके अन्तरंग का पूर्ण अनुसन्धान है। महामनीषी के विराट् व्यक्तित्व की जीवनी की यही सार्थकता है।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज का जन्म पूर्व वंग (बंगलादेश) के अन्तर्गत ढाका जिले के धामराई ग्राम में ७ सितम्बर सन् १८८७ ई० को हुआ था। यह आपके मातामह का ग्राम है। आपके पूर्वपुरुषों का निवासस्थान मैमनसिंह जिलान्तर्गत 'दान्या' गाँव है। आपके पिता पं० वैकुण्ठनाथ कविराज बाल्यकाल से ही माता-पिता के देहान्त हो जाने के कारण अपने मातुलग्राम 'काँटालिया' में मातुल द्वारा पाले-पोसे गये थे। उन्होंने ही उन्हें पढ़ाया और विवाह आदि कराये। कविराजजी के पिता पं० श्री वैकुण्ठनाथ कविराज मेधावी छात्र थे। वे बी० ए० में संस्कृत आनर्स के साथ प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण हुए थे, किन्तु एम० ए० उत्तीर्ण करने के पूर्व ही दिवंगत हो गये। वैकुण्ठनाथजी के सहपाठियों व मित्रों में स्वामी विवेकानन्द, श्री व्रजेन्द्रनाथ सील तथा भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी के गुरु श्री सतीशचन्द्र सरीखे महापुरुष रहे।

कविराजजी की प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिताजी के ननिहाल काँटालिया में हुई। तत्पश्चात् 'धामराई' में इंग्लिश स्कूल में प्रवेश लिया। इसके बाद किशोरीलाल जुबिली स्कूल, ढाका से सन् १९०५ में आपने इन्ट्रेन्स परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। परीक्षा के बाद वह लगभग एक वर्ष मलेरिया ज्वर से पीड़ित रहे। वायु-परिवतन के लिए सन् १९०६ ई० में आप जयपुर पहुँचे और महाराजा जयपुर कॉलेज से प्रथम श्रेणी में इन्टरमीडिएट परीक्षा सन् १९०८ में पास की। इस बीच ये

वहीं मुख्यमन्त्री के पौत्रों के गार्जियन ट्यूटर नियुक्त किये गये। यहीं से बी० ए० उत्तीर्ण करके चार वर्ष जयपुर रहने के बाद सन् १९१० में स्वदेश लौट आये। जयपुर के प्रवासकाल में गोपीनाथजी ने पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त दर्शन, भारतीय धर्म, प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास और पुरातत्त्व-विज्ञान का अध्ययन किया। अंग्रेजी में चासर से आरम्भ कर १९ वीं सदी तक के सभी कवियों को पढ़ा, साथ ही फ्रेंच, स्पेनी, इतालवी, जर्मन और रूसी भाषाओं की प्रमुख कृतियों का अध्ययन किया। छात्र-जीवन में लिखी गयी उनकी अंग्रेजी व बंगला की कविताओं को पढ़ने से उनकी भावुकता का परिचय मिलता है। मधुमती भूमिका का रसास्वादन योगी करता है या कवि। कौन जानता था कि यही बालक भविष्य में एक महान् योगी अखण्ड महायोग द्वारा सर्वमुक्ति की दिशा में साधनारत हो मानव-कल्याण के लिए इतना सशक्त कार्य करेगा।

सन् १९१० में डॉ० वेनिस के आकर्षण के कारण क्वीन्स कॉलेज, वाराणसी में अध्ययन हेतु प्रवेश लिया। यहाँ एम० ए० में प्रवेश पाकर गोपीनाथजी ने इतिहास एवं संस्कृति, पुरालेख शास्त्र, मुद्राविज्ञान तथा पुरालिपि विषयों का डॉ० वेनिस के निर्देशन में अध्ययन किया तथा प्राचीन परिपाटी से संस्कृत पढ़ी। अप्रैल सन् १९१३ में आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम० ए० अन्तिम वर्ष की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर एक कीर्तिमान स्थापित किया। अनेक स्थानों पर नियुक्तियों के प्रस्ताव ठुकराकर गोपीनाथजी ने वाराणसी में रहकर शोध-कार्य करना स्वीकार किया और सन् १९१४ में सरस्वती भवन की स्थापना के बाद १२५ रु० प्रतिमास के वेतन पर अधीक्षक पद पर नियुक्ति स्वीकार की।

सरस्वती भवन में संगृहीत दुर्लभ हस्तलेखों के प्रकाशन की डॉ० वेनिस की बनायी हुई योजना को कविराजजी ने साकार रूप दिया और न्याय, वेदान्त, धर्म-शास्त्र, तन्त्र, भौतिकशास्त्र, मीमांसा, पांचरात्र, आगम तथा गणित आदि अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

डॉ० वेनिस का ४ अप्रैल सन् १९१८ में निधन हो गया। इनके स्थान पर डॉ० गंगानाथ झा की नियुक्ति हुई। इसी वर्ष कविराजजी ने २१ जनवरी सन् १९१८ में योगिराजाधिराज विशुद्धानन्द परमहंस देव से दीक्षा प्राप्त की थी। यहीं से इनका झुकाव भक्ति, दर्शन व आगमशास्त्र की ओर अधिक होता गया। भारतीय आस्तिक वाद, गोरखपन्थ, वीर शैवमत, तांत्रिक दर्शन, मध्यकालीन भक्ति-सम्प्रदाय, मुख्य तथा गौड़ीय वैष्णव धर्म इनके विशेष अध्ययन के विषय हो गये। इनके जीवन का यह एक विशिष्ट मोड़ था।

सन् १९२४ में डॉ० गंगानाथ झा के बाद गोपीनाथजी गवर्नमेण्ट कॉलेज वाराणसी के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। इसके साथ ही कुछ समय तक आप रजिस्ट्रार और परीक्षायोजक का कार्य सँभालते रहे। सन् १९३७ में कालपूर्व ही अवकाश ग्रहण कर स्वाध्याय एवं साधना में निरत रहने लगे। कविराजजी के दो

सन्तानें हुईं—पुत्री सुधारानी और पुत्र जितेन्द्रनाथ। दोनों का जन्म दान्या में ही हुआ था। सन् १९१४ में बनारस में क्वींस कॉलेज में नियुक्ति के बाद इन्हें बनारस ले आये थे। १० अप्रैल सन् १९२५ में माता सुखदा सुन्दरी देवी का निधन हो गया। इसी वर्ष सुधारानी का विवाह ढाका जिले के श्री सुशीलनाथ के साथ सम्पन्न हुआ। पुत्र जितेन्द्रनाथ का विवाह सन् १९३३ में हुआ। वे प्रयाग से बी० एस-सी०, एल-एल० बी० करके बैंक की नौकरी के बाद सीनियर मार्केटिंग इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए, किन्तु अल्पायु में ही उनका देहान्त हो गया। उनके दो पुत्रियाँ व एक पुत्र हुआ।

कविराजजी के पास अनुभवसिद्ध समृद्ध ज्ञान का अक्षय भण्डार था। जीवन-व्यापी स्वाध्याय एवं साधना द्वारा संचित ज्ञान तथा दिव्य अनुभूतियाँ उनके स्वभाव का अभिन्न अंग बन गयी थीं। वे रात-दिन सभी आये हुए जिज्ञासु तथा शोधार्थी छात्रों का अनुभूत आख्या द्वारा मार्गदर्शन किया करते थे। आपके मुखमण्डल की आभा तथा विशाल चक्षु उनकी जीवनमुक्तावस्था का परिचय देते थे। सुख में हर्ष व दुःख में उन्हें कभी पीड़ित नहीं देखा गया। एकमात्र युवा पुत्र का निधन उन्हें विचलित नहीं कर सका। कैन्सर व मूत्रकृच्छ्र की असह्य शल्य-चिकित्सा में भी वह मन का सन्तुलन नहीं खो सके। आत्मप्रसिद्धि से इतनी दूर थे कि शासन तथा विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त मानद उपाधियों को लेने कभी नहीं गये।

भारतीय दर्शन में पारंगत श्री कविराजजी के जीवन के क्रियाकलाप में सूक्ष्म दर्शन तत्त्व के साथ तन्त्र की प्रयोगमूलक साधना मूर्त हो गयी थी। वे भागवत (पांचरात्र), बौद्ध, शैव एवं शाक्त तत्त्वों के सूक्ष्मदर्शी व्याख्याता थे। वे प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के प्रवर्तक आचार्य अभिनवगुप्त, अद्वैत दर्शन के प्रवक्ता वाचस्पति मिश्र, न्याय-शास्त्र के पुरोधा आचार्य उदयन और बौद्ध धर्म के व्याख्याता वसुबन्धु के प्रकाण्ड पाण्डित्य की श्रृङ्खला में एक कड़ी थे। वे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की परम्परा में काण्ट, हीगेल और शापेनहार के भी सूत्रधार थे। वे अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' आदि के लेखन में कपिल, कणाद की परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में मान्य हैं। प्राचीन आगम-साहित्य में जो ज्ञान तथा योग के रहस्यों का उपदेश मिलता था वह योग्य अधिकारी के अभाव में लुप्तप्राय हो गया है, उसे कविराजजी ने अपनी विलक्षण प्रतिभा और साधना से जनसाधारण तक पहुँचाया है।

भारतीय संस्कृति और साधना के तत्त्वान्वेषी कविराजजी की धारणा है कि भारतीय साधना विश्व की प्राचीनतम संस्कृति अथवा विश्व-मानव की साधना है। उन्होंने इसके गूढ़ तत्त्वों का निष्कर्ष निकालकर इसके विराट् स्वरूप तथा प्राचीन रहस्य को जनसाधारण तक पहुँचाया है। वे समन्वय को विश्व-संचालन की मूल शक्ति मानते थे। सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा पारस्परिक विरोधी विचारों का परिहार करना आपके दार्शनिक चिन्तन की मुख्य विशेषता थी जिसके आधार पर विश्व-बन्धुत्व-भावना की प्रेरणा ही उनका लक्ष्य था। रहस्यमय एवं प्रयत्नगम्य तन्त्रशास्त्र

की दुरूहता को दूर कर कविराजजी ने गुह्यतम एवं लुप्तप्राय तन्त्र-ज्ञान को हमारे समक्ष हस्तामलकवत् रखा है। तन्त्र उपासनाप्रधान शास्त्र है, उपास्य हैं आद शिव तथा आदि पार्वती। कविराजजी ने साधक का साध्य के साथ साक्षात्कार या परम शिव की प्राप्ति-साधना की प्रक्रिया तथा सभी आवश्यक तान्त्रिक प्रक्रियाओं और सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

कविराजजी के जीवन की चरमतम उपलब्धि है 'अखण्ड महायोग' जिसके लिए वे आजीवन कृतसंकल्प रहे। अखण्ड महायोग का उद्देश्य है गुरु-कृपा के प्रभाव से काल की निवृत्ति। खण्डरूप से यह कृपा अनादिकाल से होती चली आ रही है, किन्तु इससे सामूहिक कल्याण पूर्णरूप से नहीं हो सकता। इसके लिए आवश्यक है मोक्ष-पद की ओर आरोहण का कार्य समाप्त कर महाशक्ति के साथ अपना तादात्म्य सिद्ध कर, महाशक्तिसम्पन्न होकर योगी महाप्रेम की साधना के लिए विश्व में अवतरण करें। इसी महाकरुणा से प्रेरित हो महात्मा बुद्ध ने महाबोधि प्राप्त करने पर भी निर्वाण में प्रवेश न कर संसार के दुःखी जीवों के उद्धार के लिए शिव संकल्प किया था। इसी प्रक्रिया में आज भी गुरुधाम ज्ञानगंज में तपस्वीगण साधनारत हैं, जिनका एक-मात्र लक्ष्य है 'सर्वदुःख-निवृत्ति', सर्वमुक्ति की अवधारणा। 'अखण्ड महायोग' की देन कविराजजी के योग और तन्त्र के पूर्ण समन्वय का प्रतीक है जो मानव-सृष्टि के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगा। तान्त्रिक अध्यात्म-दृष्टि का लक्ष्य इसी परिपूर्ण अवस्था को पाना है, मात्र स्वर्ग आदि ऊर्ध्वलोक, लोकान्तर या कैवल्य-प्राप्ति नहीं।

तान्त्रिक ध्यान योग विज्ञान

महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में यक्ष द्वारा पूछे गये चार प्रश्नों में अन्तिम प्रश्न यह है कि आत्मा को परमात्मा से मिलानेवाला रास्ता कौन है? युधिष्ठिर ने बताया कि इस सम्बन्ध में तर्क से कोई लाभ नहीं। तर्क मानसिक व्यापार है और आत्मा मन से भी सूक्ष्म है। धर्म का तत्त्व आत्मा में निहित है अतः इस दिशा में किसी महापुरुष द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर निष्ठापूर्वक चलने से ही कल्याण होगा। यही मार्ग है योग तान्त्रिक ध्यान उपासना का।

आत्मा का परमात्मा से एकीकरण करानेवाली मानसिक प्रक्रिया को योग कहते हैं। महर्षि पतंजलि ने इस योग को चित्तवृत्ति-निरोध की प्रक्रिया कहा है। प्रारम्भिक अवस्था में शारीरिक स्थिति भी इसमें सहायक होती है। अणु मन का आश्रय शरीर है इसीलिए इसकी शुद्धि व पुष्टि के लिए योगासन बताये गये हैं। योगी सद्गुरु व्यक्ति के शरीर में मन की स्थिति समझकर इस प्रकार की भी साधना बता देते हैं, जिससे चित्त की चंचलता मन को प्रभावित न कर पाये। वास्तव में मन नहीं, चित्त चंचल होता है। इसीलिए इसके निरोध की बात पतंजलि ने कही है। चित्त के ही चांचल्य से मन भी प्रभावित होता है।

आत्मा परमात्मा पर चर्चा करने से पूर्व अणुमन व भूमामन को समझना आवश्यक है। अणुमन व्यष्टिगत व भूमामन समष्टिगत है। अणुमन की तीन स्थितियाँ–स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण हैं। तान्त्रिक योगी सिद्ध तन्त्र की सहायता से स्थूल मन का सूक्ष्म में और सूक्ष्म का कारण मन में पर्यवसान करते हैं। यही कारण मन ही भूमा-मन है। योगी का लक्ष्य निर्विकल्प समाधि होता है। अणु चैतन्य का भूमा चैतन्य से एकीकरण ही निर्विकल्प समाधि है, यही मोक्ष है। पंचभूतात्मक जगत् में भूमामन की परावर्तिनी स्थिति में जीव विकास के क्रम में मानव-शरीर की संरचना उसकी चरम स्थिति है। इसीलिए नरदेह को ही महर्षियों ने सर्वश्रेष्ठ माना है। योगी का मन गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र-शक्ति का आश्रय लेकर सूक्ष्म शरीर के षट् चक्रों का भेदन करके विराट् का साक्षात्कार करता है।

तन्त्र का अर्थ संस्कृत में तमस्सत्नायते यस्तु स तन्त्र, अर्थात् अन्धकार से प्रकाश की ओर उन्मुख करनेवाली विद्या तन्त्र है और मन को ऊर्ध्वमुखी वृत्तियों की ओर बढ़ानेवाली शब्दशक्ति मन्त्र है। सिद्ध तन्त्र मन के भीतर तिरोहित अनन्त शक्तियों को विकसित करता है, मन को आत्मा तत्त्व की ओर ले जाता है। तान्त्रिक योगी का यही एकमात्र लक्ष्य है--वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि नहीं, यदि है भी तो काम-क्रोधादि आन्तरिक षड्रिपुओं के सन्दर्भ में ही है। अतः ध्यानयोग की तान्त्रिक प्रणाली की आध्यात्मिक विशिष्टता जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी एवं

महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। सद्गुरु द्वारा शक्ति-संचार-प्रक्रिया ही इसकी आधारशिला है। बीसवीं सदी के विश्वविश्रुत मनीषी आगम एवं परातन्त्र के सुधारक ज्ञानगंज के सद्गुरु परमहंस विशुद्धानन्दजी की आत्मक्रिया के सम्बन्ध में तान्त्रिक ध्यान-प्रणाली तथा अखण्ड महायोग के प्रवर्तक पंडित गोपीनाथ कविराज परमहंस श्री विशुद्धानन्द-चरित पुस्तक में सूर्य-विज्ञान-परिचर्चा के सन्दर्भ में लिखते हैं, 'तन्त्र के मातृका-तत्त्व और वर्णतत्त्व की गम्भीर भाव से विवेचना करने पर जाना जा सकता है कि उसमें सूर्य-विज्ञान का ही रहस्य छिपा है। जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार सभी मातृका मण्डल की क्रिया द्वारा होते हैं, ऐसा तन्त्र में प्रतिपादित है, जो कि तन्त्रोक्त सृष्टि, स्थिति एवं संहार क्रम के न्यासों से भी परिलक्षित होता है। षडध्वा के विचार-प्रसंग में एक ओर पद, मन्त्र और वर्ण हैं एवं दूसरी ओर भुवन, तत्त्व और कला। इनके परस्पर निरूपण करने से समझ में आयेगा कि वर्ण और कला का अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है, जैसे शिव और शक्ति का, उसी प्रकार वाक् और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। इस सन्दर्भ में कवि कालिदास की उक्ति 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये' से भी प्रतिपादित होता है।

इसी तत्त्व की साकार एवं सजीव कल्पना अर्धनारीश्वर के रूप में प्रतिष्ठित है। विक्षुब्ध संवित्-बिन्दु से शुद्धावस्था में निःसृत एवं विस्तीर्ण नादमय रश्मिचक्र ही अकार आदि वर्णमाला है। शब्दब्रह्मरूपी हिरण्यगर्भ व सविता यद्यपि केन्द्रस्थल में तथा व्योम में अखण्ड रूप से विद्यमान है तथापि बाह्य भाव में उन्चास वायुओं के कम्पन ही उन्चास वर्ण या रश्मि के रूप में बाहर प्रकट होते हैं, यह पचास वर्ण ही व्यष्टि और समष्टि भाव में 'अ' से 'स' तक वर्णमाला के अथवा अ–स माला के रूप मूलाधार के आज्ञाचक्र तक छः चक्रों के बीच पचास दलों में प्रकाशित होते हैं। इसे ही तान्त्रिक वाङ्मय में अक्षमाला से अभिहित किया गया है। इस वर्णतत्त्व या नादतत्त्व को आयत्त किये बिना ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परम् ब्रह्मण्यधिगच्छति' शब्द से ही जगत् सृष्ट हुआ है और शब्द में ही अन्त में जगत् का लय होता है। इतना ही नहीं, सृष्टि, और लय दोनों में ही, अतीव संकोचन अथवा प्रसरण के ऊर्ध्व में स्थित अच्युत ब्रह्म-बिन्दु में पहुँचने के लिए भी आगे मन्त्ररूपी शब्द ही सूत्रधार बनता है। सब देवताओं के शरीर भी इसी मन्त्रमय ज्योति के द्वारा ही गठित होते हैं। इस विचारधारा की पुष्टि शिवसूत्र में हुई है।

मातृका शक्ति : 'अज्ञाता माता मातृका विश्व जननी'—'अ' से 'क्ष' तक वर्ण-समूह में संयुक्त रूप को ही शब्द कहते हैं। शास्त्र में इसे मातृका नाम दिया है। वास्तवमें मातृका शक्ति ही इस शब्द-राशिको अपने गर्भमें केवल स्पन्दनात्मक विमर्श-रूप में धारण करनेवाली, परा शक्ति है। इसका रूप पूर्ण अहन्तारूप स्वातन्त्र्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वतन्त्र चेतनारूप होने के कारण यह स्वयं 'अ' से 'क्ष' तक के स्थूल एवं सूक्ष्म वर्ण-समुदाय के रूप में फैलकर अनन्त प्रकार के वाचकों

और वाच्यों के विश्व को अवभासित कर लेती है। फलतः यह सारे विश्व की माता तो है, परन्तु ऐसी माता है जिसका परिचय सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त और किसीको नहीं है। न जानी हुई माता को मातृका कहते हैं।

संस्कृत व्याकरण मर्मज्ञ अच् (अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ) प्रत्याहार से अवगत हैं। इसी प्रकार प्रथम अक्षर अ तथा अन्तिम ह से अहंकार का सूचक अहं बनता है। अहं के अन्तर्गत संस्कृत भाषा का प्रत्येक अन्तर्वर्ती अक्षर समाहित हो जाता है। आगम की दृष्टि से प्रत्येक अक्षर वाचक है जो एक पदार्थ या वाच्य को प्रकट करता है। अतः अहं प्रलय में या अहं में सभी पदार्थ आ जाते हैं अथवा सारा विश्व संगृहीत है।

अ और ह के अविनाभाव को व्यक्त करने के लिए उस पर अनुस्वार समारूढ़ है। यह अहं परमशिव का विमर्श है जो इस बात का द्योतक है कि सम्पूर्ण विश्व शिव में निहित है और उससे अभिन्न है। अ शिव का प्रतीक है तो ह शक्ति का। अनुस्वार इस बात का प्रतीक है कि शिव पृथ्वी तक व्यक्त तो होता, किन्तु निर्लिप्त होकर भी विभक्त नहीं होता। वर्ण ही शब्द अध्वा या घाटा का मूल है। वर्ण से मन्त्र, पद आदि की उत्पत्ति है। अर्थ अध्वा की मूल कला है, जिससे तत्त्व, भुवन आदि कार्यवर्ग का क्रमिक स्फुरण होता है। दोनों धाराओं का परस्पर सम्बन्ध हर एक स्तर में विद्यमान रहता है। इस प्रसंग में ह वर्ण को हम आत्मिक दशा की व्यंजना करनेवाला मान सकते हैं। तदनुसार दशा और वर्ण के मध्य व्यंग्य-व्यंजक-भाव सम्बन्ध है। अतः वर्ण से ही अवस्थाओं का प्रकाश होता है। जिस उद्देश्य को लेकर दोनों में इस सम्बन्ध की कल्पना हुई है, वहीं दोनों का मात्र लक्ष्य है।

इसी परिवेश में आलोचना करने पर कविराजजी ने स्पष्ट किया है कि अ से विसर्ग तक स्वर वर्ण सुषुप्ति अवस्था के द्योतक हैं। स्वर वर्ण नाद कल्प हैं। इसलिए इन्हें नादरूप में ग्रहण किया जाता है। ककार से मकार तक पचीस स्पर्श वर्ण जाग्रत अवस्था के द्योतक हैं, वर्णों के उच्चारण के प्रयत्न अथवा संकोच और विकास का लक्ष्य रखने पर ही यह बात कही गयी है। इन व्यंजनों या स्पर्श वर्णों के उच्चारण में प्रयत्न होने के कारण ही यह जाग्रत अवस्था के द्योतक हैं। अतः यह सृष्टि प्रलय विषयक है। कंठ, तालु आदि का सहयोग संकोच ग्रहण है। य र ल व यह चार अन्तःस्थ वर्ण स्वप्नावस्था के द्योतक हैं। श, ष और ह–यह तीन ऊष्म वर्ण तुरीय वाचक हैं एवं कूटाक्षर 'क्ष'तुरीयातीत माना जाता है।

श्वास-प्रश्वास क्रम : मुख्य प्राण श्वास के साथ वायु बाहर जाती है जिसे निःश्वास कहते हैं। निःश्वास से ही प्राण बहिर्मुख होता है। बालक पैदा होते ही पहले श्वास बाहर छोड़ता है। यही है 'ह' कार अथवा जीवात्मा या पुरुष। यही मुख्य प्राण जब वाह्य पराङ्मुख होकर लौटता है तो अयात कहा जाता है जो सः कार है– समष्टि शक्ति का रूप है। पुरुष-प्रकृति का यही खेल है।

बाह्य या अन्तर में या नासाग्र की साम्यावस्था में जब मुख्य-प्राण अपान रूप लेता है, वह बिन्दु ही परमयोग का क्षण या स्थल है जहाँ बोध रखना ही साधक

की प्रमुख ध्यान योग प्रक्रिया है। इसी बिन्दु को साधक गुरु कृपा से विभिन्न स्थलों पर पकड़ता है जिसे अन्तर चक्र, बाह्य चक्र या द्वादशाङ्गुल कहा गया है। इसी बोध से 'सः' कार एवं 'ह' कार का भेद समाप्त होकर हंसः 'सोऽहं' में परिणत हो जाता है। मुख्य प्राण जो दायीं व बायीं नाड़ियों में प्रवाहित था, वह मध्य में चलने लगता है, जिसे सुषुम्ना कहते हैं। यही ध्यानावस्था है। यह अवस्था साधना का प्रथम चरण है जो सद्गुरु की शक्ति-संचार-कृपा से सहज ही प्राप्त हो जाती है तथा साधक की पात्रता के अनुसार आनन्दानुभूति प्रदान करती है।

सुषुम्ना की पकड़ : सुषुम्ना की या प्राण की गति तैजस का प्रवाह निरन्तर इडा व पिंगला के मध्य होता चला जा रहा है। परमेश्वर की चितिरूप शक्ति का सहारा लेकर योगी परम पद पाते हैं। यह परा शक्ति विश्व की मध्यभूता है।

विश्व की हृदयरूपी गुहा में छिपी हुई है। यनुष्य सदा श्वास-उच्छ्वास आदि के द्वन्द्वों के आघात से पीड़ित है इसीलिए वह मध्यमा शक्ति अथवा मध्यभूता चित् शक्ति को सहज रूप में नहीं खोज पाता। जीवदेह के सारे कार्यों तथा चिन्तनीय विषयों में प्राण-अपान का ही संघर्ष है। प्राण-अपान की इन विरुद्ध शक्तियों को किसी उपाय से रोकना है। विरुद्ध शक्तियों का विरोध शान्त होने पर सुषुम्ना में स्थित मध्यम प्राण में परा शक्ति के संचार की भावना तुरन्त करनी है। यह मध्यम -प्राण ही उदान नाम का प्राणरूपी ब्रह्म है, यह कौलिकों का कहना है।

पंच प्राण की मानव-शरीर में स्थिति इस प्रकार प्रतिभासित है :

'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशे स्यात् व्यानः सर्वशरीरगः॥'

श्रीभगवद्गीता के पाँचवें अध्याय के सत्ताइसवें श्लोक में भी ध्यानयोग-साधना-प्रक्रिया का संकेत किया गया है :

'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥'

बाह्य पदार्थों अथवा रूप, रस आदि को बाहर करके (क्योंकि इनका चिन्तन करना भीतर प्रवेश करना है) नेत्रों को दोनों भौहों के बीच करके अथवा अर्धोन्मीलित नेत्रों से नासिका के भीतर संचरण करनेवाले प्राण और अपान को सम बनाकर।

नीचे-ऊपर की गति सम या कुम्भक करके (सम करके) जीव इस मार्ग से मुक्त हो जाता है। यही मध्य मार्ग, सुषुम्ना, सूक्ष्ममन या हनूमान् है जो शक्तिपात द्वारा गुरुकृपा से उपलब्ध है।

गीता के छठे अध्याय के तेरहवें श्लोक में ध्यानयोग-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥'

चित् के एकाग्र करने में देह की स्थिति भी बहिरंग साधनों में विशेष उपयोगी मानी गयी है। इसीलिए कहा है कि देह का मध्य भाग, शिर और ग्रीवा इनको सम तथा दृढ़ स्थिर करके अर्थात् मूलाधार से मूर्द्धा तक सीधा निश्चल बैठे। प्रयत्नशील होकर एकमात्र नासिका के अग्रभाग को ही आत्मपरायण होकर पूर्व आदि दिशाओं को न देखते हुए, स्थिर भाव से देखे। वास्तव में नासिकाग्र ही सुषुम्ना का स्रोत है जो गुरुगम्य है। अधिकांश गीता के टीकाकार इस विषय पर मौन हैं अथवा अस्पष्ट हैं।

शिवत्व : इस प्रकार चित् शक्ति (चिति) के स्वभावसिद्ध बल को प्राप्त करने पर साधक विश्व को आत्मसात् कर लेता है अर्थात् अपने स्वरूप में समाहित कर लेता है और वह विश्व को अपने स्वरूप से भिन्न नहीं समझता। चिदानन्द लाभ होने पर देह आदि का अनुभव होने पर भी चित् से एकात्मता का बोध दृढ़ हो जाता है। यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है। जीवन्मुक्ति का अर्थ है जीते हुए अर्थात् प्राणों के स्वरूप की पहचान के द्वारा सभी बन्धन नष्ट हो जाते हैं। इन्हीं बन्धनों की गणना करते हुए तान्त्रिक-वाङ्मय में इन्हें घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, कुलशील व जाति नाम से अभिहित करते हुए अष्टपाश कहा गया है। यह अष्टपाश ही जब तक आबद्ध किये रहते हैं तब तक जीवभाव होता है अन्यथा सदाशिवत्व को उपलब्ध होता है।

इस चिदानन्द के लाभ के लिए सूत्रकार का कथन 'मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः'—मध्य के विकास से चिदानन्द लाभ होता है। कविराजजी कहते हैं कि भगवती संवित् या चित् शक्ति ही मध्य है या मध्य नाड़ी शाम्भव दृष्टि से सर्वव्यापी चित् है—सबके भीतर यही मध्यभूत सत्ता है। शिव की विशुद्ध अहं चेतना है। शक्ति की दृष्टि से ज्ञानक्रिया है।

नाड़ी का स्वरूप : अणु की दृष्टि से मध्य नाड़ी है—सुषुम्ना या ब्रह्मनाड़ी। सुषुम्ना का अर्थ है अव्यक्त ध्वनि-कुछ लोग नाड़ी को नर्व वायु नाड़ी और चक्रों को गैंग्लिया नाड़ी ग्रन्थि समझते हैं। यह भ्रम है। योग के नाड़ी और चक्र स्थूल शरीर के अंग नहीं हैं। यह सूक्ष्म शरीर के प्राणमय कोष के अंग हैं। मध्य नाड़ी, मध्यमा नाड़ी, ब्रह्म नाड़ी या सुषुम्ना (अव्यक्त ध्वनि करनेवाली) नाड़ी मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क तक जाती है। मूलाधार से सहस्रार तक फैली है। सुषुम्ना आग के समान चमकती तामसिक नाड़ी है। इसके भीतर चमकती हुई वज्रा या वज्रिणी नाड़ी है जो तेजसिक है। इस वज्रिणी के भीतर पीतवर्ण की चित्रा या चित्रिणी एक सात्त्विक नाड़ी है—इसी चित्रिणी के भीतर के भाग को ब्रह्मनाड़ी कहते हैं।

तन्त्रों में सुषुम्ना को वह्निस्वरूपा (आग), वज्रिणी को सूर्यस्वरूपा और चित्रिणी को चन्द्रस्वरूपा कहा है। चित्रिणी नाड़ी जहाँ समाप्त होती है वहाँ जो छिद्र है वह ब्रह्मद्वार कहलाता है—इसी द्वार के भीतर से कुण्डलिनी शक्ति ऊपर को जाती है। इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ सुषुम्ना के बाह्य हैं जो समानान्तर रूप से उसमें ऊपर जाती हैं। बायीं इड़ा और दायीं पिंगला क्रमशः चन्द्र व सूर्य हैं। यह नाड़ियाँ लतावत् गुम्फित हैं और नासिका रन्ध्र तक गयी हैं। मेरुदण्ड के मध्य सुषुम्ना है। तीनों की इस त्रिवेणी का संगम आज्ञाचक्र में होता है। इसी मध्य नाड़ी से विभिन्न चित्त-वृत्तियों का उदय और लय होता है। इस प्रकार होते हुए भी वह अज्ञानी जीवों के लिए अपने स्वरूप को छिपाये हुए स्थित है जब कि सबके अन्तरतम के मध्यस्थ रहनेवाली भगवती संवित् का पंचकृत्य के अभ्यास से शाम्भवोपाय व शाक्तोपाय दृष्टि से होता है। मध्य के विकसित करने का उपाय विकल्पक्षय है और अन्त कोटियों का उपाय भी पाँच प्रकार के कृत्यों के अन्तर्गत है। ईश्वर प्रत्याभिज्ञा में भी कहा गया है कि जब साधक विकल्प के त्याग से और एकाग्रता से क्रमशः ईश्वरपद प्राप्त करता है तथा स्पन्दकारिका में भी कहा है कि जब (मानसिक) क्षोभ लीन हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति होती है। यह उपाय सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शक्ति-संकोच इत्यादि उपाय यद्यपि प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र में प्रतिपादित नहीं हैं, किन्तु आगम-परम्परा के द्वारा विहित हैं। शक्ति-संकोच से अभिप्राय है विषयों की ओर जाती हुई शक्ति को समेटकर प्रत्यगात्मा की ओर उन्मुख करना 'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः'—अर्थात् इन्द्रियों की बाहर फैली हुई शक्ति को चारों ओर से बटोरकर भीतर की ओर पलटना, जैसे कछुवा भय से अंग सिकोड़ लेता है। अभिप्राय यह है कि लक्ष्य भीतर रहे और दृष्टि बिना पलक मारे एकटक बाहर की ओर रहे। चित् के भीतर अनुप्रवेश के साथ इन्द्रियों का बाहर फैलाव भैरवी मुद्रा है।

संक्षेप में चिति शक्ति का सम्बन्ध सोलह नित्याकलाओं से है। उनका सम्बन्ध मंत्र से, मन्त्र का सुषुम्ना से, सुषुम्ना का मातृका से, मातृका का इड़ा से तथा तत्सम्बन्धी सूर्य अग्नि चन्द्र से और सबका श्रीचक्र से, जो देह (पिण्डाण्ड) और विराट् देह (ब्रह्माण्ड) दोनों का प्रतीक है।

तन्त्र का विकास-क्रम तथा पञ्चमकार-साधना—परातन्त्र

परमात्मा से जिस प्रकार आत्म बिन्दु अविद्या या कारण सलिल में प्रतिबिम्बित होकर क्रमशः, सूक्ष्म तथा स्थूल देह में विस्तार पाकर बुद्धि समान जीव रूप में परिणत हुआ है, वह जिस साधन उपाय के द्वारा इस भावमय देह भय से त्राण अथवा मुक्ति पा सके उसीको तन्त्र कहते हैं—तनु अर्थात् विस्तार = विस्तारेण त्रायते इति तन्त्रम्।

सत्ययुग में मानव में अपूर्व शक्तियाँ थीं। देवलोकों में आवागमन की क्षमता थी। राजा सत्य संकल्पवान् प्रजापालक थे। पृथ्वी उर्वरा थी, वर्णव्यवस्था सुचारु रूप से चल रही थी।

त्रेतायुग में उन मान्यताओं का अवमूल्यन प्रारम्भ हुआ, वेदविहित कर्म दुर्लभ होने लगे, तब शास्त्र बने। द्वापर में वेद, शास्त्र, स्मृति—सभी नष्टप्राय हो चले, तब संहिता के द्वारा रक्षा हुई। कलियुग में एक पाप-धर्म रह गया। तपस्या क्षीण हो गयी। सत्य व धर्म लुप्त हो गया। वेद, स्मृति, संहिता, पुराण सभी लुप्त हैं। और शोकाकुल मानव-समाज में सन्ध्या-वन्दन सभी छूट गये। ऋषियों को इसका आभास पहले ही हो गया था। इसीलिए कृपावश आगम शास्त्र की रक्षा की थी।

माँ पार्वती ने शंकरजी से प्रश्न किया—'कलियुग में कोई भी वर्णव्यवस्था का पालन न करेगा। अतः वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान कैसे होगा और सिद्धि कैसे मिलेगी ?'

शंकरजी ने उत्तर दिया कि 'कलियुग में आगम पथ के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है। इस तथ्य को मैं श्रुति, स्मृति और पुराणादि में कह चुका हूँ। कलियुग में तन्त्रोक्त विधान द्वारा पण्डित, साधक गण देवताओं की पूजा करेंगे और इसीसे प्राणियों की सद्गति होगी। कलियुग में काल के प्रभाव से वेदोक्त मन्त्र व ऋचाओं का फल नष्ट हो जाता है और केवल तन्त्रोक्त मन्त्र ही आशुफल देनेवाला है और सभी प्रकार से जप-यज्ञादि में प्रशस्त है :

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं, सत्यं सत्यं मयोच्यते।
विनागमोक्तविधानेन कलौ नास्ति गतिः प्रिये॥ (आ०)

शिव-शक्ति प्रोक्त साधन विषय को सभी शास्त्रों में तन्त्र के नाम से कहा जाता है। ब्रह्म महाशक्ति में विलीन होना ही आगम या महाविद्या तत्त्व है। आर्यगण वेद व त्रयी शास्त्र के उपासक रहे हैं। इसी वेद के साधन अंश को लेकर स्वयंभू शंकर ने अपने पंचम मुख से पंचम वेद (आगमो पञ्चमो वेदः) षडाम्नायात्मक की रचना की जो तन्त्रशास्त्र के नाम से जाना जाता है।

इसीलिए शिव को पंचानन के नाम से पूजते हैं। 'ऊर्ध्वाम्नायोदितुं कर्म दिव्य-भावाश्रितं प्रिये', शास्त्र में कहा है कि भगवान् विष्णु को पंचानन शिव के ऊर्ध्वाम्नाय शास्त्र के द्वारा प्रकाश हुआ है, ऐसा सुनकर शीघ्र ही भगवान् शिव से निवेदन करने लगे–'हे देव ! सम्पूर्ण जीवजगत् यदि ऊर्ध्वाम्नाय की सहायता से मुक्ति-लाभ करेंगे तो ब्रह्माण्ड या सृष्टि कैसे चलेगी', तब शिवजी ने अधः आम्नाय नाम से कुछ आसुरी तन्त्र (षष्ठाम्नाय) निम्नमार्ग का प्रकाश कर दिया। यही लौकिक कर्म या बाह्य विभूति सिद्धिप्रद तन्त्र है। कलियुग में अज्ञानवश इन दोनों का मिश्रण हो गया। अतः जानकार गुरु के बिना दोनों का विशुद्ध विश्लेषण असम्भव है। साधारणतया शास्त्र अब आगम और निगम भेद से दो श्रेणी में विभक्त हैं। आगम शास्त्र में शिव वक्ता हैं, देवी श्रोत्री हैं एवं भगवान् विष्णु अनुमोदक हैं। निगम में देवी कहती हैं, शिव सुनते हैं एवं नारायण अनुमोदन करते हैं। आगम में साधन अधिक है, निगम में विज्ञान अधिक है। इसी आगम व निगम द्वारा उक्त साधना को ही वेदगर्भ तान्त्रिक साधना कहते हैं। गृहस्थ की नित्यक्रिया से लेकर शैव, सौर, शाक्त, वैष्णव और गाणपत्य रूप साधक पंचकों के अनुकूल पंच सगुण उपासना के क्रम में निर्गुण ब्रह्म-साधना पर्यन्त सभी इसमें निविष्ट हैं। वेद में वर्णित गायत्री एवं सन्ध्या आदि के उपपत्तिक अंश के साधनांश मात्र या क्रियात्मक पक्ष को तन्त्र में विस्तृत भाव से व्यक्त किया है। ब्रह्मज्ञान-लाभ के लिए सरल एवं शीघ्र फल प्रदान करने-वाला प्रत्यक्ष साधन-तत्त्व इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्र में नहीं है :

आगम—आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं च वासुदेवेन तेनागम इति स्मृतः॥
निगम—निर्गतं गिरिजावक्त्रात् गतं च गिरीशे श्रुतौ।
मतं च वासुदेवेन निगमस्तेन कीर्तितम्॥

आगमों का विषय ही तन्त्र-साधना है। पहले इसे वेदसम्मत नहीं मानते थे लेकिन ऋग्वेद में चर्चित 'आकृति विद्या' तन्त्र-विद्या ही है। बाद में निगमों से वैष्णवों में तन्त्र-मन्त्र का प्रचार हुआ। महायान-धारणा के बौद्धों ने भी शाक्तों से इसे अपनाया। पातञ्जलि के योगशास्त्र और बौद्धों की सहज साधना से मिलकर एक नयी साधना-पद्धति बन गयी थी जिसे ८४ सिद्धों और ९ नाथों ने प्रचारित किया। वैष्णव और सौरादि साधन-प्रणाली भी वास्तव में तान्त्रिक-परम्परा से जुड़े हैं, वैष्णव क्रम में पांचरात्र और भागवत धारा प्राचीन काल से प्रचलित है। क्रमशः दोनों में मिलावट हुई, 'पांचरात्र तन्त्र', 'सात्वत तन्त्र' आदि ग्रन्थ प्राचीन काल से ही वैष्णव-समाज में सम्मानित रहे किन्तु तान्त्रिक-साधना से शैवों और शाक्तों की साधना ही अभिप्रेत है।

तन्त्रमत से सृष्टि, पालन, संहार, निग्रह (निरोध) एवं अनुग्रह—इन पाँच कार्यों के मुख्य कर्ता परमेश्वर हैं—पंचकृत्यकारी भारतीय कोश ग्रन्थों में 'तन्त्र' शब्द के जितने अर्थ प्राप्त होते हैं, उनमें एक अर्थ है—शिवमुखोक्त शास्त्र, जिसकी चर्चा ऊपर

की जा चुकी है। शिवोक्त शास्त्र, 'आगम', 'यामल' और 'डामर' इन तीन भागों में बँटा हुआ माना गया है। 'वाराही तन्त्र' नामक ग्रन्थ में तो तन्त्रशास्त्र को, कल्प के अन्तर्गत मानते हैं जिसमें सृष्टि, प्रलय, मन्त्रनिर्णय, देवता-संस्थान, तीर्थ आदि का वर्णन है। इस परिभाषा के अनुसार वेद के छह अंगों का कल्प ही वस्तुतः तन्त्र है। बौद्धों का 'दीर्घ निकाय' इसी 'कल्प' को 'कैटुभ' कहता है, जिसका प्रचलन भगवान् बुद्ध के समय में अधिक था।

हमारे देश में शैवागम तथा शाक्तागम दोनों ही अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। आचार्य अभिनव गुप्त के समय में यह विशेष रूप से प्रचलित था कि प्राचीन काल का विशाल आगम व तन्त्र-साहित्य लुप्त हो जाने के कारण साधकों का आध्यात्मिक मार्ग रुक गया था। अतः कैलाशपति भगवान् शंकर ने चिन्तित होकर अपने शिष्य दुर्वासा का स्मरण किया और उन्हें आदेश दिया कि द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत मार्ग के लुप्त आगम शास्त्र का उद्धार करें और जगत् में प्रचार करें। तदनुसार दुर्वासा ने शैवागम को तीन भागों में विभक्त कर अपने तीन मानस पुत्रों 'त्र्यम्बक', 'आमर्दक' तथा 'श्रीनाथ' को अलग-अलग प्रत्येक भाग की शिक्षा दी। इन तीनों धाराओं का क्रमशः विस्तार हुआ। इसी प्रकार अन्य प्राचीन प्रसिद्धियों से पता चलता है कि तन्त्र अथवा आगम का प्रचार प्राचीन काल से चला आया है। बीच-बीच में वैष्णवों की पांचरात्र धारा का ह्रास एवं पुनरुद्धार होता रहा। वही हाल शैव एवं शाक्त आगम धाराओं का भी रहा, परन्तु इनकी प्राचीनता में तथा आध्यात्मिक उपयोगिता में कहीं सन्देह नहीं रहा। ऐतिहासिक गवेषणा से भी यह निश्चित हुआ है कि भारत की तरह अन्य देशों में जैसे क्रीट, एशियामाइनर, मिस्र, बैबिलोनिया तथा प्राचीन यवन देशों में भी जगन्माता या महाशक्ति की उपासना प्रचलित थी। उसी प्रकार लिंग-पूजा अथवा शिव की आराधना भी प्रचलित थी। बौद्धधर्म में मध्य युग में जो तान्त्रिक भाव लक्षित होता है तथा भारत में वज्रयान, कालचक्रयान, मन्त्रयान तथा सहजयान के विशाल साहित्य की रचना हुई थी, इसके मूल में भी खोजने पर पता चलेगा कि यही लुप्तप्राय आगम साहित्य होगा।

दो-चार सौ वर्ष पहले वर्तमान प्रचलित तान्त्रिक साहित्य इधर अधिकांश स्थलों में क्रियात्मक या प्रयोगात्मक है, जिसमें लोगों के लौकिक स्वार्थ-साधन की पूर्ति हुई। प्राचीन आगम साहित्य में, जो ज्ञान और योग का निगूढ़ रहस्य अधिकारियों के अभाव में लुप्त हो गया, आगमिक दृष्टि की उपयोगिता समझकर ही शंकर के वेदान्त सम्प्रदाय में भी बड़े-बड़े आचार्य उपासना में उत्कर्ष पाने के लिए तान्त्रिक मार्ग में प्रवृत्त हुए थे।

योग और तन्त्र साधना के सम्बन्ध में कविराजजी का कथन है कि भारतीय संस्कृति में तान्त्रिक साधना का अत्यन्त उच्च स्थान है। आर्य संस्कृति में वैदिक भावना के साथ अवैदिक भावना का भी स्थान रहा है। इस पर आर्येतर संस्कृति के प्रभाव को भी हम देख सकते हैं। यही नहीं, परवर्ती ब्राह्मण संस्कृति में वैदिक,

अवैदिक तथा आर्य संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा है। विदेशी संस्कृति ने भी विभिन्न युगों में भारतीय संस्कृति को किन्हीं अंशों में प्रभावित किया है। सूक्ष्म दृष्टि से वैदिक धर्म में चित् और जड़ के बीच कोई कृत्रिम भेद नहीं देखा। दोनों ही मिलकर एक अखण्ड सत्ता की अनुभूति के सहायक होते हैं। योग और तन्त्रशास्त्र में इसी साधना की पुष्टि हुई है।

योग और तन्त्र साधना के स्वरूप

तान्त्रिक साधना का यथार्थ स्वरूप अत्यन्त गुह्य है और साधारण जन के लिए बोधगम्य नहीं। जहाँ तक योग साधना का क्षेत्र है इसमें मानव प्रकृति के अनुसार अन्तर साधना का समन्वय हुआ है और तन्त्र अन्तर्याग व बहिर्याग उभयात्मक होने से योग से भी अधिक व्यापक है। वेदवाद का प्रथम स्वरूप अलौकिक है। उसका दूसरा रूप लौकिक है, जिसका भाव समाज के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है। श्रुति शब्द से वैदिक और तान्त्रिक दोनों श्रुतियों का ग्रहण होता है। भारत में अत्यधिक मात्रा में तान्त्रिक साधना का प्रसार है। विभिन्न आचार और प्रकरण पद्धतियाँ परम्परा क्रम में प्रचलित हैं। इसके गुह्य तन्त्र के विषय में अवश्य ही बहुत अधिक परिज्ञान नहीं। तान्त्रिक साहित्य का अति प्राचीन रूप अज्ञात और रहस्यमय है। वैदिक तथा उत्तर वैदिक साहित्य में इसके संकेतात्मक निदर्शन हैं। अनतिप्राचीन तन्त्र तथा आगमशास्त्र के नाम एवं वचनों के उद्धरण मिलते हैं, जिनमें तान्त्रिक साधना का सामान्य परिचय होता है। अधिकांश तन्त्र और आगम के ग्रन्थ अप्रकाशित पड़े हैं। मृगेन्द्र तन्त्र में तान्त्रिक विकास तथा विभाग का परिचय मिलता है। इससे विदित होता है कि परमेश्वर ने सृष्टि काल में जीवों के भोग और परापर मुक्तिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए पंच स्तोत्र की व्यवस्था की, जो कि ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम हैं और जिन्हें आम्नाय कहते हैं। निष्कल शिव के अवबोधरूप ज्ञान पहले नाद के आकार में प्रसृत होता है। कामिक-आगम बताते हैं कि सदाशिव के ही प्रत्येक मुख से पाँच स्तोत्रों का निर्गम हुआ है। इसमें पहला लौकिक, दूसरा वैदिक, तीसरा आध्यात्मिक, चौथा अतिमार्ग और पाँचवाँ मन्त्रात्मक है। सदाशिव पंचमुख हैं इसलिए स्तोत्रों की संख्या भी समष्टि रूप में पाँच है। लौकिक तथा वैदिक मन्त्र भी पाँच प्रकार के हैं।

तन्त्र के इन पाँच प्रसिद्ध स्तोत्रों की अपनी विशिष्टता है यथा पूर्व मुख से उत्पन्न तन्त्र सभी प्रकार के विघ्नों का हरण करनेवाला गरुड़ तन्त्र है। उत्तर मुख से उत्पन्न होनेवाला अद्भुत तन्त्र सबके वशीकरण के लिए है। पश्चिम मुखवाला भूत-प्रेत-बाधा-निवारक और दक्षिण मुख से निकला भावतन्त्र शत्रुक्षय करनेवाला है। स्वायम्भुव आगम में कहा गया है कि शिवमुख से उत्पन्न ज्ञानरूपता एक होने पर भी अर्थसम्बन्ध भेद से विभिन्न प्रकार की है। इस दृष्टि से शिवज्ञान दस प्रकार के तथा रुद्रज्ञान अठारह प्रकार के होते हैं।

तान्त्रिक साधना का विभाजन कई दृष्टियों से किया जाता है। उपास्यों में देवी के प्रकार भेद के अनुसार जो प्रचलित हैं उसमें महाविद्या कुमारी विभाग ही अधिक प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से काली, तारा तथा श्रीविद्या महत्त्वपूर्ण हैं। दस महाविद्याएँ काली, तारा, श्रीविद्या, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी और कमला में काली का प्रथम स्थान है। महाकाल संहिता में काली विषयक उत्कृष्ट विशालकाय ग्रन्थ हैं। काली कुलमार्चन, भद्रकाली चिन्तामणि, कालीकल्प, कामेश्वरी तन्त्र, कौलावली, कालीकुल उल्लेखनीय है। स्तोत्रों में महाकाल विरचित कर्पूरस्तव, काली भुजंगप्रयात स्तोत्र आदि प्रसिद्ध हैं। श्रीविद्या ही मोक्षदायिनी है।

इस तान्त्रिक साधना के प्रसंग में भगवत्पाद श्री जगद्गुरु शंकराचार्यजी ने सौन्दर्यलहरी के नवम श्लोक में कहा है—

'महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथम्,
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे॥'

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए डिम-डिम भाष्यकार श्री राम कवि का कथन है कि अन्तर्याग बिना किया गया बहिर्याग अनेकानेक उपचारों तथा मंत्र जाप से युक्त होने पर भी प्रायः निष्फल ही होता है, अतः अन्तर्याग की अनिवार्यता अपने-आपमें स्वयंसिद्ध है। इसी अन्तर्याग की प्रक्रिया को भगवान् शंकराचार्य ने इस श्लोक में उद्घाटित किया है कि मूलाधार में पृथ्वी, मणिपुर में जल, स्वाधिष्ठान में अग्नि, हृदय में पवन तथा कण्ठ में आकाश तत्त्वों पर विजय प्राप्त करना चाहिए। यहाँ एक प्रसंग में यह और भी ज्ञातव्य है कि आज्ञा एवं विशुद्धि यह दोनों ही चक्र आकाश तथा मन एवं चित्त के सूचक हैं, इसीलिए इनका संक्रमण करके सहस्रार पद्म में वह आद्याशक्ति ज्योतिस्वरूपा कामेश्वरी कामेश्वर के अंक में आसीन है। ध्यान रहे, तन्त्रों में मूलाधार से विशुद्धि पर्यन्त समस्त चक्रों की समष्टि को ही कुल कहा गया है तथा सहस्रार की ही अकुल संज्ञा बतायी है। इस प्रकार से क्रमशः कुल स्थानवर्ती चक्रों में कल्पेश्वरादि के ध्यान एवं अर्चन की विधि आगम शास्त्रों में वर्णित है।

स्पष्ट है कि कुल कुण्डलिनी पथ के विजित किये बिना इस अकुल (सहस्रारवर्तिनी) महाशक्ति की अनुभूति कठिन ही नहीं वरन् प्रायः असम्भव ही प्रतीत होती है। योगशास्त्री प्राणवायु का निरोध करते हुए क्रमिक रूप से इन चक्रों पर विजय प्राप्त करके बढ़ता है जब कि तन्त्र हमें इन समस्त चक्रों के मध्यवर्ती अक्षरों के माध्यम से निरन्तर 'जपात्सिद्धिः' का उद्घोष करता है। इसी उभयविध (योग एवं तन्त्र) की साधनाओं से उस भगवती ललिताम्बा छवि का साक्षात्कार सम्भव है। इन प्रक्रियाओं की विशद चर्चा महर्षि पतञ्जलि कृत योगसूत्र तथा अन्यान्य श्रीविद्या-विषयक प्रामाणिक ग्रन्थों से प्राप्त की जा सकती है, साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य है कि यह समस्त व्यापार प्रायोगिक होने से गुरुगम्य है।

नवार्ण मन्त्र—सन्दर्भ तान्त्रिक परिवेश

दुर्गा-सप्तशती स्तोत्र पाठ का प्रधान अङ्ग है नवार्ण मन्त्र। यह स्तोत्र के आदि और अन्त में जपा जाता है। इस मन्त्र में प्रणव को छोड़कर—'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' यह नौ अक्षर हैं। देवी के प्रायः सभी कार्यों में नौ अङ्क की प्रधानता है, जैसे नवरात्र, नवदुर्गा, नवकन्या, नौ कोठे का यन्त्र, नवमी तिथि इत्यादि। मन्त्र के पहले तीन अक्षर क्रमशः महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के बीज हैं और अन्तिम विच्चे पद नमस्कारवाचक है। इनके मध्य में चामुण्डायै है। इसी मध्य पद की उत्पत्ति प्रभाव और आश्चर्यजनक शक्ति का प्रमाण सहित दिग्दर्शन सप्तशती के अध्याय पाँच से सात तक के कथाभाग में मिलेगा।

पूर्वकाल में जब दैत्यराज शुम्भ और निशुम्भ की शक्ति बहुत बढ़ गयी तो उनसे डरकर देवगण हिमालय पर जाकर जगदम्बा की स्तुति करने लगे। इसी समय श्री पार्वतीजी गंगास्नान के लिए आयीं। उन्होंने पूछा, आप लोग किसकी स्तुति कर रहे हैं। देवगण इस प्रश्न का उत्तर देना ही चाहते थे कि पार्वतीजी के शरीर से एक शक्ति प्रगट हुई और कहने लगी कि यह लोग शुम्भ-निशुम्भ से परास्त और पीड़ित होकर मेरी स्तुति कर रहे हैं। यह शक्ति ही शिवा, अम्बा, अम्बिका और कौशिकी आदि नामों से विख्यात हुई। इसके प्रकट होते ही पार्वतीजी का शरीर काला हो गया और वे 'कालिका' के नाम से प्रख्यात हुईं। फिर यह दोनों देवियाँ हिमालय पर ही रहने लगीं। शुम्भ ने देवी को सन्देश भिजवाया कि वे उसकी या उसके अनुज निशुम्भ की पत्नी बनकर ऐश्वर्य-भोग करें। दूत के इन वचनों को सुनकर देवी ने हँसकर कहा कि तुम दैत्यराज से कह देना कि—

'यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥'

मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो कोई मुझे संग्राम में जीतेगा और मेरा गर्व चूर कर देगा—इस प्रकार जो मेरे ही समान बली होगा वही मेरा पति हो सकता है। इसलिए यदि वे मेरा पाणिग्रहण करना चाहते हैं तो मुझे युद्ध में परास्त करें।

दूत के मुख से यह प्रतिज्ञा सुनकर अभिमानी शुम्भासुर क्रोध से तिलमिला उठा। उसने सेनापति धूम्रलोचन को आज्ञा दी कि उस ढीठ सुन्दरी को चोटी पकड़ कर यहाँ ले आओ तथा मार्ग में कोई भी देवता या गन्धर्व उसका पक्ष ले तो उसे मार डालो। धूम्रलोचन साठ हजार दैत्यों की सेना लेकर अम्बाजी के पास गया और उन्हें शुम्भ की आज्ञा सुनायी। माताजी ने भी अपनी वही प्रतिज्ञा सुना दी। इस पर इन्हें पकड़ने को दौड़ा तो माँ ने उसे हुँकार से ही भस्म कर दिया।

धूम्रलोचन का निधन देखकर दैत्य-सेना नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र बरसाने लगी। तब अम्बाजी के वाहन सिंह ने उस भारी सेना को नष्ट कर दिया।

दैत्यराज शुम्भ को जब यह समाचार मिला तो उसने चतुरंगिणी सेना के साथ चण्ड-मुण्ड को ही भेजा। उन्होंने जाकर देखा कि हिमालय के शिखर पर सिंह पर चढ़ी हुई अम्बाजी मन्द-मन्द मुस्कुरा रही हैं। वे उन्हें पकड़ने के लिए अस्त्र-शस्त्र सँभालकर आगे बढ़ने लगे। यह देखकर अम्बाजी को उन पर बड़ा क्रोध हुआ और उनका मुख काला पड़ गया। उस समय उनके ललाट से एक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। उसका वर्णन सप्तशती के सातवें अध्याय के छठे, सातवें व आठवें श्लोक में इस प्रकार से किया गया है—

"काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी ॥ ६ ॥
विचित्रखट्वाङ्गधरा नरमालाविभूषणा।
द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा ॥ ७ ॥
अतिविस्तारवदना जिह्वाललनभीषणा।
निमग्ना रक्तनयना नादापूरितदिङ्मुखा" ॥ ८ ॥

'उनका नाम काली था। उनका मुख बड़ा ही विकट था। वह हाथों में तेज तलवार, फन्दा और खट्वाङ्ग (खाट का पाया) आदि लिये हुए थीं। गले में नर-मुण्डों की माला सुशोभित थी। शरीर का मांस सूखा हुआ था, उस पर वह हाथी की खाल का वस्त्र धारण किये थीं। मुख बड़ा चौड़ा था, उससे लपलपाती हुई भीषण जिह्वा लटक रही थी। आँखें लाल-लाल और भीतर को धँसी हुई थीं। जिस समय भयंकर रूप में प्रकट होकर माँ काली ने गर्जना की उस समय उनके शब्द से दसों दिशाएँ गूँज उठीं।' वे दैत्य-सेना में घुसकर उनका संहार करने लगीं और क्षणभर में सारी सेना को पीस डाला। जब चण्ड ने अपनी सेना को समाप्त होते देखा तो दौड़कर उनके सामने आया और उन पर बाणों की वर्षा करने लगा। इसी प्रकार मुण्ड ने भी उन पर चक्रों की बौछार आरम्भ की। किन्तु वे सभी बाण व चक्र उनके मुख में जाकर समा गये जैसे हजारों सूर्य मेघ में समा जाते हैं। तब सारे अस्त्र-शस्त्रों को गटककर उन्होंने दौड़कर चण्ड की चोटी पकड़ ली और तलवार से उसका सिर काट लिया। इसके बाद मुण्ड भी उनके सामने आया, किन्तु उसकी भी यही गति हुई।

तब इन दोनों सिरों को लेकर श्री कालीजी अम्बाजी के पास आयीं और उन्हें उनके आगे रखकर अट्टहास करती हुई कहने लगीं 'अम्बाजी, इन चण्ड-मुण्ड महापशुओं की बलि मैं आपको समर्पण करती हूँ। अब शुम्भ-निशुम्भ का संहार आप स्वयं करें।' तब अम्बाजी ने उनसे बड़े मधुर शब्दों में कहा—

'यस्मात् चण्डं च मुण्डं च गृहीत्वा त्वमुपागता।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवि भविष्यति ॥'

तुम चण्ड-मुण्ड को लेकर हमारे पास आयी हो इसलिए लोक में तुम चामुण्डा नाम की देवी होकर विख्यात होगी ।

यह 'चामुण्डायै' पद उसी अद्‌भुत शक्ति का द्योतक है । यों तो इसके चार ही अक्षर गिने जाते हैं, किन्तु इसमें (च् म् ण् ड् य्) पाँच व्यंजन और (आ, उ, आ, ऐ) चार स्वर हैं । इस प्रकार इसकी वर्ण संख्या भी ९ ही है । इन वर्णों का बड़ा अद्‌भुत प्रभाव है इसीलिए मन्त्र के मध्य में रखे गये हैं ।

कुछ सिद्ध परातन्त्र योगियों के अनुसार सप्तशती के चतुर्थ अध्याय के २४वें श्लोक में देवी-प्रार्थना का मन्त्र ही नवार्ण मन्त्र है, जिसमें नौ बार न वर्ण का प्रयोग किया गया है । निःसन्देह इस मन्त्र की अर्थवत्ता विशिष्ट और व्यापक है । जिज्ञासु साधकों के लिए मन्त्र का स्पष्टीकरण निम्नाङ्कित है जिससे इस मन्त्र की अद्‌भुत प्रभाव-शक्ति को आँक सकते हैं–

'शूलेन पाहि नो देवि, पाहि खड्गेन चाम्बिके ।
घंटास्वनेन नः पाहि चापज्यानिःस्वनेन च ॥'

हे देवि ! अपने खड्‌ग से मेरे दैहिक, दैविक तथा भौतिक कष्टों को नष्ट कर दो । जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति की व्याधियों को दूर कर दो । मैं त्रिदेह स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर का घंटा अर्थात् नाद, स्पन्द या प्रणव द्वारा अतिक्रमण कर सकूँ । कारण एवं महाकारण शरीर में महिषासुररूपी अहंकार का षट्‌चक्र भेदन द्वारा शमन कर सहस्रार या ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर क्रमशः ऊर्ध्व गति प्राप्त कर ज्ञान- राज्य में प्रवेश पा सकूँ । मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति ही इस महामन्त्र का उद्देश्य है, वैसे सप्तशती का प्रत्येक श्लोक मन्त्र है ।

मानव-जीवन का चरम लक्ष्य ब्रह्म है, उसे ही वेधना है । प्रणवरूपी धनुष में आत्मारूपी बाण द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करना है । बाण की भाँति सीधे लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है । घंटा या परावाणी की अन्तिम ध्वनि टन् 'बिन्दु' है---

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रयत्नेन वेधव्यो शरवत् तन्मयो भवेत् ॥'

दीक्षा-तत्त्व–तान्त्रिक सन्दर्भ

भारतीय साधना-पद्धति में वैदिक काल से लेकर आज तक गुरु का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है, कारण कि भगवत्-प्राप्ति सद्गुरु की कृपा के माध्यम से ही होती है, कोई बिरला ही व्यक्ति सीधे भगवान् से बोध प्राप्त करने में समर्थ होता है। गुरु शब्द का विश्लेषणजन्य अर्थ है गृणाति उपदिशति वेदादिशास्त्राणि इन्द्रादि-देवेभ्यः इति अर्थात् इन्द्रादि देवताओं को जो वेद-शास्त्रों को ग्रहण कराये और उपदेश दे तथा देव, गन्धर्व, मनुष्य आदि द्वारा जिसकी स्तुति की जाय—'गीर्य्यते स्तूयते देव-गन्धर्वमनुष्यादिभिः। तन्त्रसार में भी कहा गया है--

गकारदः सिद्धिः प्रोक्ताः रेफः पापस्य हारकः।
उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः॥

अर्थात् गुरु का ग अक्षर सिद्धि देनेवाला है, र पाप हरनेवाला है और उकार अव्यक्त विष्णुरूप है। गुरु आत्मात्रितय (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) से परे है।

शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेशवान्।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान्॥

गुरु शान्त है, क्लेश तपसहिष्णु है, पवित्र है, दक्ष है, सुबुद्धिमान् है। गुरु आश्रमी है, ध्याननिष्ठ है, तन्त्रमन्त्रविशारद है, निग्रह-अनुग्रह में समर्थ है। उद्धार करने में और संहार करने में जो समर्थ है, ब्राह्मणोत्तम है, तपस्वी है, सत्यवादी है और गृहस्थ है वही गुरु कहलाता है।

वैदिक ऋषि ने गुरु को शक्तिपूरित माना है। उपनिषद्कार ने तो 'यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ' (श्वेता० ६।२३) के माध्यम से गुरु को देवता के समकक्ष सिद्ध किया है और शंकराचार्य ने 'गुरुकृपां विहाय' ब्रह्मविद्या दुर्लभ है कहकर गुरु-कृपा को ही मुक्ति के लिए एकमात्र सहायक तत्त्व माना है। महाभारत-कार ने गुरु को 'सहस्रमूर्द्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः' अर्थात् सहस्रमूर्द्धा देवेन्द्ररूप गुरु सभी देवता से आपूरित हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी रामचरितमानस में गुरु के कमलचरणों की भूरि-भूरि वन्दना की है—

बन्दउँ गुरुपद पदुम परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू, बड़े भाग उर आवइ जासू।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के, मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।
सूझहिं रामचरित मनि मानिक, गुपुत प्रकट जहँ जो जेहि खानिक।

अर्थात् गुरु के चरण-नखरूपी मणियों के समूह की ज्योति का स्मरण करने से हृदय को दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है, जो मोह के अन्धकार को नष्ट करनेवाला है, जो प्रकाश के साथ है, जो बड़े भाग्य से हृदय में आ पाता है। उसके माध्यम से हृदय के विमल नेत्र खुल जाते हैं और संसाररूपी रात्रि के अन्धकारजनित दुःख-दोष दूर हो जाते हैं। रामचरित्ररूपी मणिमुक्ता आँखों के सामने सूझने लगती हैं और गुप्त खानें प्रकट हो जाती हैं।

अतः साधनामार्ग में गुरु की भूमिका सर्वश्रेष्ठ है। साधारण जीवन में शिक्षा-गुरु का माहात्म्य भी कम नहीं है। जिस शक्ति के द्वारा हमारी आत्मोन्नति होती है और हम मुक्ति की ओर अग्रसर होते हैं वही शक्ति हमारी गुरु है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि जिन शक्तियों के इशारे से अपना कार्य निरन्तर कर रहे हैं वही जगद्गुरु हैं। इन जगद्गुरु को जानने के लिए जब प्राणों में अकुलाहट होती है तभी दीक्षागुरु तत्त्वज्ञान का उपदेश कर जीव का मार्ग सुगम कर देते हैं। जगद्गुरु के मायाजालस्वरूप इस ब्रह्माण्ड के परमाणु से लेकर विश्व-व्यापार तक के अन्दर व बाहर के तत्त्व को जो समझते हैं वही शिक्षा-गुरु होते हैं।

गुरु का अधिक माहात्म्य इसलिए है कि वह केवल शिष्य के योग और क्षेम का वाहक ही नहीं है, किन्तु मोक्षप्रदाता है। गुरु कई प्रकार के होते हैं जैसे—जन्म-सिद्ध, साधनासिद्ध, मन्त्रसिद्ध, तन्त्रसिद्ध, औषधसिद्ध। इस युग की बदली हुई परिस्थितियों में सद्गुरुओं का भी अभाव हो गया है और अधिकांश गुरु व्यवसायी हो गये हैं जो सिद्धियों के क्षणिक चमत्कार दिखाकर शिष्य से नमस्कार करवाते हैं, पुजाते हैं और उनसे धन ऐंठते हैं—मोक्ष दिलाना तो दूर रहा, शिष्य के योग-क्षेम का भी निर्वाह नहीं करते। ऐसे गुरुओं के लिए तुलसीदासजी का कथन है :

गुरु शिष बधिर अन्ध कर लेखा,
एक न सुनइ एक नहि देखा।
हरइ शिष्य धन सोक न हरई,
सो गुरु घोर नरक महँ परई॥

हमारे युग के सर्वश्रेष्ठ विश्वविश्रुत मनीषी ध्यान साधना विज्ञान, अखण्ड महायोग के प्रवर्तक महातन्त्रयोगी महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज ने भी शाक्तदृष्टि से गुरुतत्त्व की विशद विवेचना की है तथा गुरु दीक्षा रहस्य को ही विशिष्ट मानकर गुरु-परम्परा का अटूट सार्थक समर्थन किया है। गुरुतत्त्व शब्द ब्रह्मस्वरूप है। 'शब्दब्रह्माणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' यही शास्त्रीय सिद्धान्त है अर्थात् परब्रह्मरूप उपेय को यदि पाना हो तो शब्दब्रह्म की उपासना उसका एकमात्र उपाय है। शब्दब्रह्म ही चेतन शब्द या वाक्य ही मन्त्ररूप में प्रादुर्भूत होता है। यही मन्त्र जिस शिष्य के कान में पड़ता है या उसके द्वारा हृदयंगम किया जाता है यथार्थ गुरुरूप में ग्राह्य है तथा वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा वाणियों

में क्रमशः अनुशीलन द्वारा शिष्य को अव्यक्त परमधाम में पहुँचा देते हैं। यही गुरु-कृपा का महाविलास है। इस विज्ञान के अनुसार साधक और योगी में अन्तर है। साधक अपनी ही साधना में प्रवृत्त दूसरे के सुख-दुःख से तटस्थ रहता है, किन्तु योगी का लक्ष्य दूसरों के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होता है, पर को वह अपना रूप मानता है। यहीं साधक का आधार दुर्बल है और योगी का आधार तदपेक्षा प्रबल। साधक स्वयं में तृप्त है, एकाकी कायाविरहित, किन्तु योगी कायायुक्त है और उसकी नित्यसंगिनी है 'शक्ति'। शक्ति के साथ आत्मा का योग ही प्रकृत-योग है। साधक शक्तिहीन होने से शक्ति से युक्त नहीं होता। अतः शक्ति-अर्जन के अभाव में प्रकृत लाभ नहीं होता। शक्ति मातृस्वरूपा है, अतः साधक योगी की भाँति माँ के साथ युक्त नहीं होता। उपनिषद् कहते हैं–'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' योगी गुरु द्वारा योगी शिष्य एवं साधक दोनों का संस्कार अर्थात् दीक्षा-संस्कार सम्पन्न होता है।

अखण्ड महायोग का दीक्षा-रहस्य वैज्ञानिक है। गुरु योगी शिष्य को दीक्षा देते समय सर्वप्रथम उसके समस्त अणुओं का आकर्षण कर लेते हैं। परमाणुओं का आकर्षण नहीं करते। गुरुदत्त चैतन्य शक्ति के प्रभाव से अणु केवल शुद्ध ही नहीं होते, वरन् परमाणुओं के साथ योगसूत्र में भी आबद्ध हो जाते हैं। योगी गुरु योगी शिष्य को मात्र बीज-दान ही नहीं, शिष्य को काया-दान भी करते हैं। इसी गुरुदत्त काया का नाम है—कुण्डलिनी-जागरण। अतः शिष्य को अलग से कुण्डलिनी-जागरण नहीं करना पड़ता। शिष्य के दीक्षा-काल में ही यह प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। तत्पश्चात् शिष्य का उत्तरदायित्व होता है जाग्रत कुण्डलिनीरूपी शक्ति के लिए आहारदान। शिष्य कर्त्तव्य की पूर्ति प्रक्रिया ही है योगी की दीक्षा। साधक का आधार बलहीन होने से उसमें जाग्रत शक्तिदान या योग-दीक्षा सम्भव नहीं होती। साधक का पथ है विवेक-मार्ग, योगी का पथ है योग-मार्ग। साधक किसी योगी की कृपा बिना योग-भूमि में प्रवेश नहीं पाता, किन्तु योगी के लिए साधक-रूप में आत्म-प्रकाश पाना कठिन नहीं। योगी सद्गुरु-कृपा से योगपथ द्वारा लक्ष्य की ओर बहता चला जाता है। लक्ष्य ही उसे महामाया परमा प्रकृति एवं ब्रह्मपर्यन्त लिये चला जाता है। यह अमर सत्ता की गति है। कर्मशील योगी की गति नर-देह में नहीं है। नर-देह में कर्मशील योगी लक्ष्य एवं कर्म दोनों का समन्वय करते हुए संचरण करता है।

दीक्षा-तत्त्व में शाक्त-दृष्टि

आत्म-क्रिया ध्यान-साधना निरपेक्ष प्रणाली है, जिसमें न पञ्च कर्मेन्द्रियों का ही आश्रय लिया जाता है और न ज्ञानेन्द्रियों का ही। ब्रह्म भी निरपेक्ष है अतः उसे निरपेक्ष ही पाना है। सुषुम्ना की यह ध्यान-प्रक्रिया सहज, सरल और वैज्ञानिक है। इस क्रिया के पूर्व कुछ आवश्यक बातें जानना आवश्यक है। मन, बुद्धि एवं अहंकार अन्तःकरण के अन्तर्गत हैं। इस अन्तःकरण का क्षेत्र आज्ञाचक्र तक है, जिसे त्रिकुटी कहते हैं। नासिकाग्र इस प्रक्रिया का केन्द्रबिन्दु हैं। इड़ा-पिंगला के मध्य जो सुषुम्ना है, उसमें प्राण का संचरण कराया जाता है। यह बिन्दु मेरुदण्ड के अन्त में मस्तक तथा सिर के पिछले भाग में है। आत्मा के चेतनस्वरूप इस बिन्दु से ही सारे शरीर को चेतना मिलती है और सभी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का संचालन एवं नियन्त्रण होता है तथा यहीं से सारा भौतिक क्रिया-कलाप प्रारम्भ होता है। यह आत्मतत्त्व चित् को ज्योतित करता है, फिर तटस्थ हो जाता है। यही चेतना या चित् शक्ति मन को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है।

सभी कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को सञ्चालित करनेवाला यह मन अधिकांश मनमानी ही करता है और संसार की गतिविधियों को चलाने के लिए अधोमुखी प्रवृत्तियों को प्रगति देता है इसीलिए इसे उद्दण्ड कहते हैं, 'उद्दण्डजातो हि मनः।' बुद्धि इसकी सलाहकारिणी है। बुद्धि की दी हुई सलाह व ज्ञान को भी प्रायः उपेक्षित कर देता है। अतः निरंकुश होता है और हठधर्मी व अहंकारी बन जाता है। चित् अथवा आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही अमरत्व का विज्ञान है।

ध्यान-साधना की अधिकांश प्रक्रियाएँ मन को अमन करने की हैं। कहीं मन के घोड़े में साँस की लगाम लगाकर उस पर नियन्त्रण करते हैं। कहीं हठयोग की कठिन प्रक्रियाओं से मन को नियन्त्रित करने की चेष्टा करते हैं, फिर भी प्रायः शान्त नहीं होता। कर्म तथा ज्ञानेन्द्रियों के आश्रित मन को प्रशमन करने की प्रक्रिया में ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था में लय की आशंका रहती है यह व्यवधान है। साधक का पथ है विवेक-मार्ग और योगी का पथ है योग-मार्ग। प्राणचिन्तना धारा की इस साधना में सद्‌गुरु दीक्षाकाल में ही उसके अणुओं का आकर्षण कर लेते हैं, जैसे कुछ क्षणों के लिए पत्थर फेंकने से सरोवर की काई छँट जाती है, उसी प्रकार सद्‌गुरु की स्पर्श एवं शक्ति-संचार प्रक्रिया से व्यक्ति का अन्तस्तल कुछ क्षणों के लिए विकार-हीन हो जाता है और वह शीघ्र ही आनन्द का अनुभव करता है। योगी की आत्म-क्रिया ध्यान-पद्धति से व्यक्ति जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में चेतना का अनुभव करता है और लय की आशंका कम रहती है।

इस साधना में जिज्ञासु श्रद्धा एवं विश्वास से सद्‌गुरु की कृपा से आपूरित

व्यापक आकाश को साधन-क्षेत्र बनाता है और व्यापक किन्तु जड़ आकाश में निरन्तर बहते हुए चेतन प्राण-स्पन्दन से सुषुम्ना का परिचय प्राप्त करता है तथा उस धारा से युक्त होता है। यही सूक्ष्ममन, सूक्ष्म माँ है, हनुमान् है—तुलसी ने भी कहा है कि 'राम दुवारे तुम रखवारे होत न आज्ञा बिनु पैसारे।' इस साधना में आकाश की व्यापकता है और सुषुम्ना द्वारा स्पन्दन एवं गतिशीलता का अनुभव होता है। वास्तव में आत्मा व्यापक और गतिशील है।

वेद में 'रवि' और प्राण को यथाक्रम आदित्य, सूर्य, अग्नि एवं सोम चन्द्रमा कहा है। यह सभी परमशक्ति द्वारा ही कार्य कर रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी विज्ञान में मैटर और एनर्जी की स्थिति को स्वीकार करते हुए भारतीय मान्यता का अनुमोदन किया है। अखण्ड महायोग की उपलब्धि है कि शरीर मैटर है। इसमें जो चेतना है, वही शरीर के सारे कार्य करा रही है—प्रकृति-पुरुष, चन्द्र-सूर्य, इड़ा-पिंगला या मैटर, एनर्जी। मैटर स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकता अतः विश्लेषण के बाद मैटर अदृश्य हो जाता है। तब विश्व की कार्यकारिणी स्पन्दन-रूपी शक्ति अर्थात् एनर्जी जिसे बोधात्मिका भी कहते हैं, खोज में आयी। इसी चेतना-शक्ति से योगी सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों में आत्मसाक्षात्कार करता है। अखण्ड महायोग के अनुसार शक्ति की साम्यावस्था ही 'कुमारी' है। अतः यह केन्द्र-स्वरूपा शक्ति कुमारी ही इस साधना में उपास्यरूप में मान्य है। सृष्टि-लय की मध्यवर्तिनी कुमारी धारा का आश्रय ही जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा दिलानेवाला है। वास्तव में मनुष्य विज्ञान की कामना करता है और मनुष्यत्व ही सर्वश्रेष्ठ विज्ञान है। मनुष्यत्व-प्राप्ति के लिए देवता भी मानव-शरीर धारण करते हैं। विज्ञान का खोजी अंधकार से प्रकाश की ओर दौड़ता नहीं है वरन अन्धकार को आलोकित कर मानव-जीवन के चरम उद्देश्य को प्राप्त करता है।

यह प्राणचिन्तना-साधना-धारा अपने में पूर्ण होने के कारण ही अखण्ड संज्ञा से विभूषित की गयी है। सुषुम्ना से परिचय तथा योग-चेतना से मुक्त होने के पश्चात् दूसरी श्रेणी में मणिपूर से सहस्रार की क्रिया में सूक्ष्म सुषुम्ना में अवस्थित हो सहस्रदल तक संधान करते हुए भक्ति उन्मेष करता है। तृतीय चरण में विज्ञान-भूमि पर चित्तवृत्ति-निरोध कर मन के रहस्यों का संधान कर पराभक्ति में प्रवेश करता है। आत्मक्रिया के इस योग-तान्त्रिक परिवेश में श्रद्धा-विश्वाससमन्वित प्रगाढ़ सरसता, सुषुम्ना से परिचय तथा योग-चेतना का सन्देश मिलेगा। साधना के चार स्तरों में क्रमशः मणिपूर से सहस्रार की प्रक्रिया, तन्त्र-दीक्षा, भक्ति-उन्मेष तथा विज्ञान-भूमि में चित्तवृत्ति-निरोध-प्रक्रिया का विश्लेषण अन्तर्निहित है। यहीं गुरु-कृपा से पराभक्ति का उदय होता है और साधक अन्ततः अपने में ही अखण्ड सत्ता का साक्षात्कार करता है। जप आदि साधना-पद्धति के द्वारा कदाचित् प्राण की ओर अग्रसर होना ही सम्भव है, क्योंकि जप-क्रिया की गति केवल सूक्ष्म शरीर तक ही है, किन्तु इनके द्वारा प्राण का भेदन कर

मन तक पहुँचना कठिन है। मन की समाप्ति ही विज्ञान है। यही है समग्रज्ञान अथवा अपरोक्ष ज्ञान। जप अथवा अजपा में साधारणतः निद्रा या लय की आशंका रहती है, यहीं उसे योगनिद्रा के भ्रामक स्वरूप का भी आभास हो सकता है। इन परिस्थितियों में साधक विवेक अर्जित पुनर्जन्म-प्रक्रिया पर भले ही विजय प्राप्त कर ले किन्तु उसका ज्ञान शुष्कज्ञान ही होगा। इस अशोभित ब्रह्मज्ञान में आनन्द का उन्मेष अधिकांश नहीं होता। यदि होता भी है तो काल्पनिक ही। कारण यह है कि साधक यहाँ मन-बुद्धि के द्वारा चैतन्य उपलब्धि का प्रयास करता है। अखण्ड महायोगी की स्थिति 'जपा मेरै अजपा मेरै अनहद हू मरि जाय' की आधारशिला पर है। वह मन, बुद्धि व अन्तःकरण में ही आत्मसाक्षात्कार करता है। उसका बोध जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जागरूक है। वह असीम के ध्यान और धारणा के अपूर्व सामंजस्य से समाधिस्थ होता है और दिव्य ज्ञानपुञ्ज से आवृत चिदाकाश में स्वच्छन्द विचरण करता है।

अहंग्रह-उपासना अथवा श्वास-प्रश्वास जप-प्रक्रिया द्वारा अधिकांश साधक अन्तःकरण-शुद्धिजन्य विवेक से मुक्ति पा जाते हैं। किन्तु निवृत्ति-मार्ग में लौटने के समय माया और कर्म की निवृत्ति हो जाने पर भी पशुभाव निवृत्त नहीं होता। कर्म अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। अतः विवेकरूप अज्ञान के हट जाने से कर्तव्य-अभिमान नहीं रहता और वह कर्म के अभाव से पुनः देह-ग्रहण से निवृत्त हो आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में भी आत्मा का पशुभाव न हटने से आत्मा को भगवत्ता प्राप्त नहीं होती। अतः इस विवेक के पथ पर केवल शुष्कज्ञान का ही उदय होता है, किन्तु इस तान्त्रिक ध्यान-योग-प्रक्रिया के अनुशीलन से दिव्य ज्ञान का प्रस्फुरण होता है। जिस अखण्ड ज्योति का साक्षात्कार परम शिवस्वरूप परमहंस भृगुराम देवजी ने दिव्य ज्ञानगंज धाम में प्राणिमात्र की भौतिक दुःख-निवृत्ति के लिए किया, उस ज्योति के केन्द्रीकरण से आविर्भूत परमहंस विशुद्धानन्ददेव के कृपाकोष महातन्य योगी पण्डित गोपीनाथ कविराज के ग्रन्थों में अधिक विकसित रूप में उपलब्ध है।

५

अवधारणा समष्टि-मुक्ति की—अखण्ड महायोग

इस सदी के महान् विचारक ज्याँ पाल सार्त्र ने कहा है--वस्तुतः मनुष्य अपने-आपमें कुछ नहीं है--एक निरर्थक जानवर—वास्तव में तब आदमी बनता है जब किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृतसंकल्प हो जाता है, उसमें पूरी ईमानदारी से डूब जाता है। वह स्वतंत्रता का अधिकार चाहता है—व्यक्ति को अपने अनुसार काम करने का अवसर पाने का इच्छुक, यदि न मिले तो संघर्षरत हो। हर व्यक्ति अपने भाग्य का विधाता है, नियन्ता है. इसलिए सार्थक तत्त्व आस्तिक या नास्तिक होना नहीं है तत्त्व है अपने अस्तित्व को समझकर उसकी रक्षा करना। सार्त्र का अस्तित्ववाद का सिद्धांत बृहत्तर रूप में इसी आधारशिला पर रखा था।

इस कथन की सार्थकता इस शताब्दी के श्रेष्ठतम विद्वान् सन्त महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज पर अक्षरशः लागू होती है। वह आजीवन आध्यात्मिक जगत् की श्रेष्ठतम उपलब्धि 'अखण्ड महायोग' के लिए कृतसंकल्प रहे।

कविराजजी ने सिद्धपीठ ज्ञानगंज के सद्गुरु महातन्त्रयोगी परमहंस विशुद्धानन्दजी से सन् १९१८ में दीक्षा लेने के २० वें वर्ष बाद इस साधना का प्रारम्भ किया जिसकी पूर्ति के लिए वे जीवनभर तपोरत रहे और कृतकृत्य हुए। उनकी मान्यता थी कि व्यक्तिगत मुक्ति या मोक्ष अथवा निर्वाण मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य नहीं है। मनुष्य-जाति के इतिहास के पर्यवेक्षण से भी यह सिद्ध है कि पृथ्वी पर महान् आत्माओं ने सर्वदुःख निवृत्ति के लिए सतत प्रयत्न किये हैं, बुद्ध, सुकरात, जेसस क्राइस्ट ने भी मानवमात्र की मुक्ति की सम्भावनाएँ आँकी थीं। कविराजजी का दृढ़ विश्वास था कि उनके गुरु परमहंस विशुद्धानन्दजी का इस पृथ्वी पर जन्म या विशुद्ध सत्ता का मात्र इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अवतरण हुआ था, जिसका उन्होंने नामकरण किया था 'अखण्ड महायोग'। भारत के सभी प्रसिद्ध दर्शन—शाक्त, शैव, वैष्णव तथा बौद्ध साधना-पद्धतियो के अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर ही इसकी नींव रखी थी। यद्यपि व्यष्टि-साधना की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता किन्तु जीवमात्र की मुक्ति का लक्ष्य सृष्टि के साथ ही महान् योगियों तपस्वियों तथा सिद्धों ने निर्णीत किया। महात्मा बुद्ध ने इसके लिए घोर संघर्ष किया। बाद में तन्त्रों में भी समष्टि-मुक्ति की भावना का प्रसार हुआ। गुरु-शिष्यों में इस अध्यात्म की शिक्षा तथा निजी गूढ़ अनुभवों का प्रसार करने में लगे। फलस्वरूप गुरुमण्डली की स्थापना हुई, अनेक सिद्ध पुरुषों ने अपने-अपने सिद्ध मण्डल बनाये। पंचमुख गणाधीश्वर ज्ञानगंज गुरुमण्डल, मौर्य तथा मन्त्र-मण्डल एवं बुद्ध सिद्धमण्डल अधिक लोकप्रिय हुए। प्राकृतिक स्तर पर तो यह सिद्ध-गण काल को नहीं जीत पाये, किन्तु वे अपने गुरुराज्य में वैन्दव व शाक्त-देह में स्थिर

रहकर सम्बन्धित शिष्यों को सहायता करते रहे। यह अध्यात्म की प्रक्रिया केवल एक वर्ग तक ही सीमित थी अतः यह समष्टि-मुक्ति का सन्देश लाने में असमर्थ रही, यद्यपि इसके अनुशीलन में अध्यात्म की विशेष प्रगति हुई। इसीश्रृंखला में कविराज-जी भी ज्ञानगंज गुरु राज्य से सम्बद्ध थे, जहाँ उनके गुरुदेव परमहंस विशुद्धा-नन्दजी ने २० वर्ष साधना की और उस धारा से सम्बद्ध रहे। कविराजजी ने गुरुदेव की शरण में रहकर सिद्ध मण्डल की उपलब्धियों से विशेष लाभ उठाया और उनके आदेश एवं संरक्षण में अखण्ड महायोग की सत्रह-सत्रह मास की तीन कठिन साधनाएँ करके इसकी पूरी प्रक्रिया समाप्त की। योग-विद्या में मृत्यु-विजय की एक नवीनतम धारणा प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम प्रभु जगद्बन्धु ने इस विश्व के रूपान्तरण की बात सोची और इस पर कुछ प्रकाश भी डाला, किन्तु गुरुदेव के अनुसार उस समय इसका अवसर नहीं आया था। उनके अनुसार अब इस योग का उपयुक्त समय आ गया और फलस्वरूप दो विभूतियाँ श्री अरविन्द तथा कविराजजी दोनों ही विश्व के रूपान्तरण के अलौकिक कार्य के लिए कृतसंकल्प हुए। दोनों के ही आदर्श और उद्देश्य एक थे, यद्यपि उनकी भावाभिव्यक्ति में भिन्नता है—अरविन्द का चैत्य-पुरुष का अवतरण चन्द्रावतरण की संज्ञा से विभूषित हुआ और कविराजजी के अखण्ड महायोग अथवा सूर्य-विज्ञान के माध्यम से सूर्यावतरण की बात कही गयी—चन्द्रावतरण तत्पश्चात् सूर्यावतरण दोनों ही जीव की उद्धार-प्रक्रिया की क्रमिक स्थितियाँ हैं।

जीव के नानात्ववाद सिद्धांत पर आधारित सर्वमुक्ति ही अखण्ड महायोग में ग्राह्य है, अनेक महाजनों ने भी सर्वमुक्ति का महास्वप्न देखा है। इनकी एक प्राचीन वाणी प्रसिद्ध है कि मृत्यु-जय ही रिपु-जयकी परिणति है। मानव के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में महायान-सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रभु जगद्बन्धु जो लगभग २०० वर्ष पूर्व इस मृत्युलोक से अन्तर्हित हो गये, कहते हैं, "एक विराट् संहार-लीला का अभिनय होगा, तत्पश्चात् पृथ्वी पर एक नित्य आनन्दमय लीला की सूचना प्राप्त होगी, जिससे जगत् के प्रत्येक जीव को समान अधिकार प्राप्त होगा"। उन्होंने अनन्त ब्रह्माण्ड के स्रष्टा, परमात्मा, परब्रह्मगण और चराचर के भविष्य का वर्णन किया है, वही अखण्ड महायोग है। उनका भी यही कहना है कि चिरकाल के अन्धकार के तिरोहित होते ही इस पृथ्वी पर ब्रजधाम का आविर्भाव होगा। अनन्त ब्रह्माण्ड प्रेमामृत से आकर्षित होंगे, राधास्वामी-सम्प्रदाय के स्वामी ब्रह्मशंकर का कहना है कि विशुद्ध आध्यात्मिक मण्डल की साधना धारा के प्रतिपादित सिद्धांतों के अनुसार शीघ्र ही सतयुग से भी अधिक मंगलमय स्थिति उत्पन्न होगी। साधकों की आध्यात्मिक शिक्षा और उनके अनुभव इतने तीव्र होंगे कि उन्हें जीवनकाल में ही उद्धार की प्रतीति होगी तथा उन आध्यात्मिक मण्डलों में प्रवेश होगा और वे अधिक संख्या में अमरत्व प्राप्त करेंगे। महाकवि दिव्यद्रष्टा सूरदास ने भी कहा है—

एक सहस्र नौ सौ के ऊपर ऐसो योग परै।
सहस्र वर्ष लौ सतयुग बीतै धर्म की बेलि बढ़ै॥

"सुप्रसिद्ध ज्योतिषी आर्थर चार्ल्स की भविष्यवाणी है कि "एशिया के किसी देश (भारत की ओर संकेत) से कुछ ही दिनों में एक विचार-क्रान्ति उठेगी और सारे विश्व में इस तरह गूँज जायगी कि मानव का सोया अन्तःकरण जग जायगा—विज्ञान एक नया मोड़ लेगा जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रचुरता होगी। सारे ब्रह्माण्ड को एक सूत्र में बांधने का आधार यह आध्यात्मिक सिद्धियाँ और उनकी सामर्थ्य होगी।" हालैण्ड के यहूदी-परिवार के भविष्यवक्ता गेरार्ड क्राइसे का कहना है, एक प्रकाश उठ रहा है जो वायुमण्डल को भी शुद्ध करेगा और लोगों के अन्तःकरण में छाये कषाय-कल्मष को भी मिटायेगा। संसार एक सूत्र में बँधेगा और सर्वत्र अमन-चैन होगी।

व्यक्ति तथा समष्टि-योग की दो धाराएँ हैं। योग का अर्थ है सम्पूर्ण चैतन्य से योग अथवा काल और स्पेस (अन्तराल) व प्रकृति से परे ईश्वर या सच्चिदानन्द से एकाकार होना—यह खण्डयोग व्यक्तिगत प्रयत्न से ही सम्भव है। अखण्ड महायोग मात्र व्यक्ति का ईश्वर से मिलन नहीं है, किन्तु यह जीवमात्र या सम्पूर्ण मानवता की ईश्वर से शाश्वत मिलन की प्रक्रिया है—ईश्वर जो समस्त जगत् के काल व स्पेस (अन्तराल) में व्याप्त है। यह योग काल के केन्द्र या क्षण में होगा। यह क्षण का अवतरण महाप्रकाश की ज्योति स्फुलिंग है—महाशक्ति की दैवी लीला विलास सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् में व्याप्त होगी। अखण्ड महायोग दर्शन मात्र के अनुमान के आधार पर आश्रित नहीं है और न यह आध्यात्मिक संस्कारों पर ही टिका है किन्तु इसमें सत्य की ठोस अनुभूतियों का आधार है। परम्परागत योग में षट्चक्र अथवा मूलाधार से सहस्रार तक कुण्डलिनी जागरण के द्वारा शिव से योग स्थापित किया जाता है। दूसरे योगमार्ग में स्वयं सद्गुरु इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया तीन शक्तियों को आयत्त करके शिष्यों को सहस्रार तक ले जाते हैं। शिष्य को इच्छित उद्देश्य के लिए स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। तीसरे प्रकार के योग में शक्तिपात-प्रक्रिया है। सद्गुरु अपनी अनुग्रह-शक्ति से शिष्य को दीक्षा-काल में ही जाग्रत कुण्डलिनी का योगदान देता है। शिष्य को स्वयं कुण्डलिनी जाग्रहत नहीं करनी पड़ती। गुरु के इस स्पर्श द्वारा स्पन्द का अनुभव होता है, जो इसे सहस्रार के मध्य शतदल तक ले जाता है। कविराजजी का यही मार्ग था जिसमें षट्चक्र-भेदन की प्रक्रिया नहीं है। गुरु द्वारा जाग्रत कुण्डलिनी का योगदान दीक्षाकाल में ही हो जाता है। यह कमल का मार्ग है। जिस महायोगी ने महाशक्ति की उपासना की है वह सभी चक्रों को कमल (पत्र) में परिवर्तित कर देता है। यह करुणाधारा है जिसका क्षीण आभास गौतम बुद्ध ने किया था, अतः उनका नाम करुणा पुण्डरीक है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अखण्ड महायोग की शतभेद-क्रिया कविराज ने अपने गुरु की आज्ञा से ही प्रारम्भ की थी।

कविराजजी ने व्यक्तिगत साधना के बाद महाशक्ति की उपलब्धि की। योगी ने विशेष आग्रह एवं अभाव की पराकाष्ठा पर ही उसे माँ की विशेष कृपा होती है और समष्टि शरीरबोध का अनुभव होता है। उनके गुरु परमहंस विशुद्धानन्दजी ने

उनके समय में ही वाराणसी में नवमुण्डी आसन की स्थापना की थी। कविराजजी के अखण्ड महायोग का यही आधार है। इस स्तर पर गुरुशक्ति, इष्टशक्ति तथा स्वरूप-शक्ति तीनों मिल जाती हैं। इस अवसर पर कविराजजी के अन्तर में मानवता के कल्याण की भावना सजग हो उठी। व्यक्तिगत रूप से उपलब्धि उनको अंगीकार नहीं थी। इसे अस्वीकार कर उन्होंने समष्टि जीवभाव से आत्मसात कर लिया। कविराजजी इस रहस्यपूर्ण तथ्य का विवेचन करते हुए कहते हैं, सत् चित् तथा आनन्द के त्रिकोण के केंद्र में महाशक्ति है, यह समष्टि जीवभाव से मिलने के लिए आकुल है। इसमें आकांक्षा, प्रेरणा तथा दृढ़विश्वास है। यह निम्नोन्मुखी त्रिकोण है। महाशक्ति के स्पर्शमात्र से यह ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण हो जाता है। इस प्रकार महाशक्ति के आकर्षण से जब दोनों त्रिकोण परस्पर क्षण या काल के केन्द्र में मिलते हैं, तब उसे डिवाइन डीसेन्ट या दैवी अवतरण कहते हैं। हमें यह ध्यान रखना है कि वृत्त के केन्द्रबिन्दु में यह प्रक्रिया सम्पन्न हो चुकी है। काल के केन्द्र में यह गुरुमण्डल है जहाँ पर सारा विश्व रूपान्तरित होगा। यह गुरुमण्डल कमल की भाँति है जिसमें महाशक्ति का स्फूर्त शाश्वत महाप्रकाश है।

जब कविराजजी कृपाशून्य कर्मक्रिया में व्यस्त थे, उस समय उन्होंने नाना प्रकार के कष्टों की चिन्ता न करते हुए मात्र महासंकल्प पर अपने ध्यान को केन्द्रित किया जिससे सम्पूर्ण विश्व दैवी प्रकाश से ओतप्रोत हो जाय। अनेक वर्षों के साधना-काल ने ही महाशक्ति ने स्वयं कविराजजी को गले से लगा लिया। उन्हें अपने गुरु तथा इष्टदेव की पूरी कृपा मिली और मातृशक्ति ने एकमुखी, दोमुखो तथा सर्वमुखी क्रिया उनके अन्दर पूरी की। इस क्रिया के बाद दैवी शक्ति उनके अन्दर प्रकट हुई और प्रेमस्वरूप दर्शन दिया। फलस्वरूप उनके अन्दर सहज क्रिया कार्य करने लगी। कविराजजी के व्यष्टि रूप से सारी उपलब्धियों को अस्वीकार करने पर यह शक्ति समष्टिजीव के आधार की पूर्ति के लिए उपयोगी सिद्ध हुई तथा समष्टिमुक्ति के महासंकल्प के लिए सहायक हुई। जब प्रेमकुमारीस्वरूप महाशक्ति तथा स्वात्म-स्वरूप शक्तियाँ संगठित हुईं तभी से सम्पूर्ण विश्व में रूपान्तरण का कार्य पृथ्वी चेतना के स्तर पर प्रारम्भ हो गया। कविराजजी समस्त विश्व के रूपान्तरण की मात्र चर्चा ही नहीं करते थे, उनकी दिव्य दृष्टि में इसका आभास भी हो चुका था और वह इसकी पूरी आशा भी करते थे। उनका कहना था कि जब शाश्वत प्रकाश मानवता को स्पर्श करेगा तो स्थायी होगा। वह सदा ही समष्टि प्राण, समष्टि मन तथा समष्टि देह के पक्षधर थे। उनका कहना था कि समष्टि मन तथा प्राण को महाप्रकाश ने रूपान्तरित करना है। यह रूपान्तरित व्यक्ति ही इस पृथ्वी पर दैवी व्यक्ति या महामानव (सुपरमैन) कहलायेगा। तब दिव्य संसार अभेदभावापन्न होगा। इसके शीघ्र कार्यान्वयन के लिए सम्पूर्ण मानवता के संकल्पकी आवश्यकता है। इसके लिए भावापन्न होकर मात्र माँ को पुकारना है। सभी को महासमष्टि जीवभाव के लिए निजी स्वार्थों को त्यागकर संकल्प करना है। विश्व का रूपान्तरण अवश्यम्भावी है, जो महानिशा में होगा। मानवमात्र के लिए माँ की यह महाकृपा होगी। ●

श्री दुर्गा सप्तशती-योग-तांत्रिक परिचय

साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि दुर्गासप्तशती शाक्त-सम्प्रदाय का धार्मिक ग्रन्थ है और कामनाओं की पूर्ति तथा अरिष्ट-नाश के लिए उपयोगी है, किन्तु देवी माहात्म्य के अनुसार इससे मति धर्मे तथा शुभाम्' अर्थात् धन-पुत्रादि के अतिरिक्त धर्मविषयक शुभ मति की भी प्राप्ति होती है तथा यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का साधक होने से भुक्ति मुक्तिदायक अवश्य है।

सप्तशती के पाठ के पूर्व देवीसूक्त-पाठ की उपयोगिता इसलिए अधिक है कि यही इस ग्रन्थ का मुख्य आधार है। कथानक के अनुसार अंभृग ऋषि की कन्या 'वाक्' परमात्मा के साथ तादात्म्य लाभ कर ऐसा अनुभव करती थी कि वही सारे विश्व के रूप में प्रकाशमान है तथा सम्पूर्ण विश्व का आधार थी। सप्तशती में वर्णित भगवती चण्डी इन्हीं का स्वरूप है। यह ब्रह्मस्वरूप शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप थीं। 'अंह राष्ट्रेभिः' इत्यादि जो सूक्त है जिसका आंभृगी वाक् द्रष्टा ऋषि है, बुद्धस्वरूपा होकर भगवती कहती हैं, मैंने ही मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनीकुमारों को धारण कर रखा है। हमारे में ही यह सारा जगत् शुक्ति में रजत की भाँति अध्यस्त होकर सत् रूप में दिखता है।

देवी के इन आख्यानों काआध्यात्मिक रहस्य यह है कि प्रथम चरित्र में मधुकैटव वध वर्णित है जो जीव की ब्रह्म ग्रन्थ अस्थि-भेदन को सूचित करता है। मध्यम चरित्र में महिषासुर-वध जो कि विष्णुग्रन्थि भेदने को तथा अन्तिम चरित्र में शुम्भ निशुम्भ के वध में जीव की रुद्र ग्रन्थि-भेदन की अभिव्यंजना मिलती है। जीव को इन तीनों ग्रन्थियों के भेदने पर सब बन्धन छूट जाते हैं और ब्रह्मसायुज्य हो जाता है। वैदिक तथा लौकिक योग-क्रियाओं में ग्रन्थिभेद का महत्त्व प्रतिपादित है।

शक्तिभाव से मातृभाव से ही जगदम्बा की उपासना सप्तशती का मुख्य उद्देश्य है। श्री शंकराचार्य ने आनन्दलहरी में कहा है—

> "शिवः कक्तयायुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम
> न चे देवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि" ॥

अर्थात् शक्ति से युक्त होने पर ही शिव प्रभावशाली है। शक्ति की रंजना न होने पर उनमें कोई संचार व गति नहीं। शिव बिना शक्ति के अथवा 'शि' से शक्तिरूप इकार की मात्रा को हटाने से शव शेष रह जाता है, जो प्राणहीन है।

"सच्चिदानन्दः पुरुषः" सत्तावान् पुरुष का लक्षण है, सत्ता चैतन्य और आनन्द के साथ जो तीनों ब्रह्म के रूप हैं बाद में नाम और रूप जो जगत् रूप है, भासित होते हैं। वस्तुतः पाँचों एक साथ ही भाषित होते हैं। किन्तु प्राणिमात्र कोपहले नाम-

रूप का ही अनुभव होता है। नामरूप ही आवरण-शक्ति है जिसने सच्चिदानन्द को आच्छादित कर रखा है। आवरण-शक्ति या नामरूप तो प्रकट है अतः अनुभव-गम्य है। इसी प्रकार नवजात शिशु पिता की अपेक्षा माँ का बोध पहले करता है। इसी आधार पर मातृरूप से परमात्मा की उपासना युक्तिपूर्ण और सहज है। सीता राम, राधाकृष्ण, गौरीशंकर आदि में मातृ शक्ति की ही प्राथमिकता है।

मार्कण्डेय ऋषि के प्रश्न पर ब्रह्माजी कहते हैं कि अर्गला और कीलक पढ़कर तब कवच पाठ करें। इसके पश्चात् सप्तशती पाठ करना चाहिए। दुर्गोपासनाकल्पद्रुम में लिखा है :—

कीलकं शंकरप्रोक्तं कवकं ब्रह्मणा कृतम्।
अर्गलं विष्णुना प्रोक्तमेतत् त्रितयमुत्तमम्॥

अर्गला पाठ से पापनाश, कीलीक से सिद्धि-प्राप्ति तथा कवच से सर्वदा रक्षा होती है। "नतेभ्यः सर्वदा भक्त्या चण्डिके दुरितापहे" हे चण्डिकामाता, भक्ति-पूर्वक तुम्हें प्रणाम करने पर पाप का नाश होता है। 'जयत्वं देवि चामुण्डे' मन्त्र के साथ जय शब्द के उद्‌घोष से विक्षिप्त चित्त को अन्तर्मुखी किया जाता है। चित्त का विक्षेप ही यहाँ पाप का सूचक है और उसकी अन्तर्मखी प्रक्रिया ही पाप की विनाशलीला है। इसी स्तोत्र में मधुकैटभ, महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ आदि के विनाश का संकेत भगवती के भक्तों के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य आदि षड्‌रिपुओं के नष्ट होने से है। 'रूपं देहि' में रूप से तात्पर्य है ज्ञान जिससे परमात्मा जाना जाता है। 'जयं देहि' में जय, 'सत्यमेव जयते नानृतं' इस उपनिषद् के वाक् से सत्य में प्रतिष्ठित करने की मंगल कामना है।

दुर्गासप्तशती श्री महादेव से शापित है। उसके उद्धार के लिए कीलकस्तोत्र है। सर्वप्रथम मार्कण्डेय ऋषि सब विघ्नों की शान्ति के लिए कीलककर्त्ता श्री शिव को प्रणाम करते हैं :—

"विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदी दिव्यचक्षुषे।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे॥"

विशुद्ध-निर्मल ज्ञानरूप जिसका शरीर है अर्थात् जो निर्मल ज्ञानस्वस्थ हैं, तीनों वेद जिसके दिव्य चक्षु हैं, सिर पर चन्द्र धारण किये हैं, ऐसे शिवजी की कल्याण-कामना के लिए मैं प्रणाम करता हूँ। श्रेय भुक्ति-मुक्तिदायी सूचक है। आध्यात्मिक अर्थ में श्रेय विद्या और प्रेय अविद्या है। श्रेय है चित्त की शान्ति जिससे आत्मज्ञान होता है और प्रेय से सांसारिक सुख। 'विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदी दिव्य चक्षुषे' कीलक के इस प्रथम मन्त्र का यहाँ रहस्य है कि गुरु श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ हों। 'नमः सोमार्थधारिणे' से यह इंगित होता है कि अर्द्धक्षीण मनवाले ही मन्त्र ग्रहण के अधिकारी होते हैं। अतः कीलित सप्तशती का निकीलन करके चण्डी का पाठ व जप करने से साधक को अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त होती है।

देवीकवच से आत्मोन्नति व आत्मरक्षा का प्रयोजन है। योग एवं तन्त्र में अंगन्यास, करन्यास आदि की इसीलिए व्यवस्था है। योगाभ्यास के द्वारा प्राण को आयत्त कर योगी शरीर के किसी भी भाग में प्राण-वायु को प्रवाहित कर, प्राणसंचार कर अंगों को सतेज व बलिष्ठ करते हैं, यही उनका न्यास है। तन्त्र-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक अंग में बोधशक्ति का परिचालन न्यास है। कवच के मन्त्रों के अनुसार बोध-शक्ति को मातृशक्ति के रूप में अनुभव करना ही साधक का मुख्य कर्तव्य है। किसी मूर्ति का ध्यान न करके केवल शक्तिचेतना के बोध का उन्मेष शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक बल तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष प्रदान करता है। सद्गुरु प्रदत्त शक्तिपात-प्रक्रिया का स्पर्शबोध ही माँ से सतत युक्तता का प्रतीक है।

पूर्वकाल में भगवान् व्यास के शिष्य महर्षि जैमिनि ने मार्कण्डेय ऋषि से कुछ प्रश्न किये थे। महामुनि अनन्यचित्त से परमात्मा में लीन रहते थे, अतः कथावार्ता विन्ध्याचल-निवासी पिंग, विराध, सुपुत्र एवं सुमुख नामक चार तत्त्वज्ञ पक्षियों को प्रश्न करने का आदेश दिया। पक्षियों ने जैसा मार्कण्डेय ने भागुरि (केष्टुकि) से कहा था उसीके अनुसार मन्वन्तर के कथा-प्रसंग से सप्तशती की कथा जो मेधा ऋषि ने राजा सुरथ तथा समाधि वैश्य को कही थी, कह सुनाई, इसीसे यह षट् संवाद कहलाता है।

दुर्गा सप्तशती में भगवती चण्डी के तीन चरित्र हैं। प्रथम अध्याय में मधु-कैटभ नामक दो असुरों का वध है। दूसरा चरित दूसरे से चौथे अध्याय में महिषासुर-वध तथा इन्द्रादि देवताओं की स्तुति है। तीसरा चरित्र पाँचवें से तेरहवें अध्याय तक है। पंचम अध्याय में इन्द्रादि देवगण शुम्भ-निशुम्भ से पराजित अपराजिता देवी की शरण में जाते हैं। वहाँ शुम्भ के द्वारा प्रेषित दूत से देवी के परस्पर संवाद का वर्णन है। छठें अध्याय में धूम्रलोचन-वध, सातवें में चंड-मुड-बध, आठवें में रक्तबीज-बध, नवें में निशुम्भ एवं दशम अध्याय में शुम्भ-बध है ग्यारहवें अध्याय में इन्द्रादि देवगण देवी की स्तुति करते हैं। बारहवें में भगवती द्वारा सप्तशती-पाठ की फलश्रुति वर्णित है। तेरहवें में सुरथ एवं समाधि को देवी द्वारा वर-प्रदान का वर्णन है।

प्रश्न यह उठता है कि देवी के तीन ही चरित्रों का दिग्दर्शन क्यों है ?

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिंगदेहस्थं तत्संघो जीव उच्यते ॥

अधिष्ठान चैतन्य (आत्मा), लिंगशरीर (पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचप्राण एवं अन्तःकरणचतुष्टय) एवं चित् चैतन्य का आभास चिदाभास यह सब मिलकर जीव कहलाते हैं। जीव के स्थूल, सूक्ष्म एवं आत्मा तथा चिदाभास से इनका परस्पर तादात्म्य है। त्रिगुण अथवा सत् रज तम इनके तारतम्य से तथा इनके तादात्म्य से कर्मज, सहज तथा भ्रमज जीव में तीन ग्रन्थियाँ पैदा होती हैं। यह कर्म बीज ही जीव के बन्धमोक्ष के कारण होते हैं, जिन्हें हम संचित, क्रियमाण एवं प्रारब्ध

कहते हैं। प्राणियों के कर्मबीज-संस्कारों का आधार अन्तःकरण है—चित्त, बुद्धि, मन एवं अहंकार। इस अन्तःकरण के तीन दोष मल, विक्षेप एवं आवरण हैं जो क्रमशः जन्म-जन्मान्तर की वासना, चित्त की चंचलता तथा स्वस्थ अज्ञान कहलाते हैं। इन्हीं ग्रन्थियों के कारण आवागमन का चक्कर रहता है। यह ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि तथा रुद्रग्रन्थि कहलाती हैं। तन्त्र में यही मूलाधार दृष्य एवं तालु या जिह्वा ग्रन्थि कहलाती है। सप्तशती में इन तीन ग्रन्थियों के तारतम्य से तीन चरित्र हैं—प्रथम मधुकैटभ वध, ब्रह्मग्रन्थि, द्वितीय महिषासुर-वध विष्णुग्रन्थि, तृतीय शुम्भ बध में रुद्रग्रन्थि-भेदन का वर्णन किया गया है। आख्यायिका रूप से उक्त तीनों ग्रन्थियों का भेदन ही सप्तशती का आध्यात्मिक रहस्य है। अतः प्रत्येक चरित्र के क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र ऋषि हैं। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती देवता हैं। ऋग्, यजु एवं सामवेद हैं।

योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार मूलाधार ब्रह्मग्रन्थि है ब्रह्मा का अधिष्ठान होने के कारण। हृदय अनाहत चक्र विष्णु का अधिष्ठान है तथा तालु कुहर भृकुटी के मध्य में शिव का अधिष्ठान है। इस प्रकार यह दोनों क्रमशः विष्णु और रुद्रग्रन्थि हैं।

(यह षट्चक्र-भेदन गुरुप्रदत्त शक्तिपात से सरल हो जाता है। ध्यानयोग की तान्त्रिक प्रणाली में योगी गुरु सुषुम्ना में प्रवेश कर देते हैं।) मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति सर्पाकार से स्थित रहती है, इसे ब्रह्मयोनि भी कहते हैं। यहाँ इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना हैं। तीन प्राण की प्रधान नाड़ियाँ हैं। इड़ा बायीं, पिंगला दायीं तथा सुषुम्ना मध्यनाड़ी है। यह सर्पाकार कुण्डलिनी इस सुषुम्ना को रोककर वहाँ साढ़े तीन घेरा देकर सोई पड़ी रहती है जिस कारण जीव अज्ञानदशा में बद्ध संसार-माया में विचरण करता है। वाक् योग, प्राणायाम, ध्यान आदि के अभ्यास से व प्रभु कृपा से कुण्डलिनी-जागरण सम्भव है।

सप्तशती की चण्डी व दुर्गा ही सच्चिदानन्दरूपा हैं। सत्‌चित् आनन्द से सत्ता व अस्तित्व, चित् से चेतनता व प्रकाश एवं आनन्दपद से शान्ति व सुख का बोध होता है। अतः सत्ता या अस्तित्व का बोध स्थूल शरीर में होता है, चित् व चैतन्य का भान इन्द्रियों की वृत्ति में तथा आनन्द का भान अन्तःकरण में होता है। दूसरे शब्दों में जाग्रत व्यवस्था में सत् का, स्वप्न में चैतन्य का तथा सुषुप्ति में सुख का विशेष रूप से भान होता है। सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप है, गुण नहीं। तथापि तीनों पदों के पृथक पृथक तीन प्रभाव हैं अतएव तीनों चरित्रों में क्रमशः सत् चित् एवं आनन्द, सत्ता चैतन्य एव आनन्द को ही उपासना-विधि है। इससे तीनों ही ब्रह्मा, विष्णु एवं रुन्द्र-ग्रन्थियों का भेदन होता है।

५

रास-लीला–'योग-तान्त्रिक-प्रणाली'

'रास' शब्द भारतीय दर्शन एवं धर्म से सम्बद्ध एक अति विलक्षण भाव है, जिसके अन्तराल में गहनतम दार्शनिक मान्यताएँ एवं भक्ति-सागर की अनन्त ऊर्मियाँ सहज ही उच्छलित होने लगती हैं। रास शब्द का मूल अर्थ भले ही चिल्लाहट हो और कला-प्रधान लय तालात्मक रूप भी हमारे इतिहास के अनजाने काल से मानव समाज के बीच विकसित हुआ हो, परन्तु जहाँ से रास की टिप्पणियाँ उपलब्ध होने लगती हैं, वहाँ हमें यह रास भी कृष्ण एवं व्रजांगनाओं से ही सम्बद्ध मिलता है। रास रसस्वरूप है। यह रसों का समूह है, इसका अर्थ है आस्वाद अथवा आनन्दानुभूति। सामान्य काव्यानन्द लौकिक विषयों पर आश्रित है और रासलीला रसस्वरूप कृष्णविषयक होने से निःसन्देह अलौकिक है। शास्त्रों की दृष्टि से रासलीला सम्पूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त ऊर्जाशक्ति का शाश्वत स्पन्दन स्फुरण है।

सामान्य अर्थ में लीला का अर्थ क्रीड़ा या खेल है। काव्यशास्त्र के अनुसार श्रृंगार भाव चेष्टा और प्रिय का अनुराग ही लीला है। नायक-नायिका का इन भाव भूतियों का अनुशीलन ही रासलीला का अनुसरण है। लीला का दर्शनपरक अर्थ है रहस्यपूर्ण व्यापार अथवा कालनिरपेक्ष प्रवृत्ति। परमात्मा का रहस्यपूर्ण व्यापार ही लीला है और उसकी सृष्टि-रचना का रहस्य है। उसका लीलामय स्वभाव जो नितान्त ही निष्प्रयोजन है। क्रीड़ा में आत्मसुख सन्निहित है। किन्तु लीला, क्रीड़ा से कुछ ऊपर हटकर है। लीला में परमात्मा को आत्मसुख अभीष्ट नहीं क्योंकि वह तो स्वयं पूर्ण है। अतः लीला अहैतुकी है। लीला उसका बालवत् स्वभाव है। प्रयोजन की निरपेक्ष वृत्ति ही लीला है। 'ली' अथवा 'लय' के अनेक अर्थ हैं। जैसे कार्य का कारण में समावेश भाव।

अर्थात् गीत, वाद्य और नृत्य का साम्य सत्, रज, तम–इन तीनों गुणों की परस्पर आवरणात्मकता निर्विकल्प समाधि में असमर्थ चित्तवृत्ति की निद्रा आदि का समावेश रासलीला में सहज है।

रास नृत्य के साथ भी श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के योग से आज एक विस्तृत भावभूमि का निर्माण हुआ है, 'श्रीमद्भागवत' में इस लीला को कामजयी लीला कहकर अतुलनीय दार्शनिकता प्रदान की गयी है। मध्यकालीन साधकों के वाणी ग्रन्थों में भी श्रीकृष्ण के विविध रूपों को लेकर विरचित अनेक लीलाओं का सन्धान किया जा सकता है। यह रासलीला केवल काव्य-कला-रस प्रदाता न रहकर ('रसो वै सः' भगवान् श्रीकृष्ण के लीला रस समूह–रसानां समूहो रासः—का अभिव्यंजक है। इस प्रकार यह रासलीला चिन्मय तत्त्व की चिन्मयी अभिव्यक्ति है। यह नित्य धाम की नित्य लीला है, श्रीकृष्ण यहाँ रसमूर्ति हैं। श्रीराधा उनकी अभिन्ना)

रस-विग्रहस्वरूप है। इनकी अभिन्ना गोपियाँ लीला सहकारिणी हैं और नित्य रस की भोक्ता हैं। इस स्थिति में रासलीला केवल कलामात्र न रहकर श्रीकृष्ण की उपासना के माध्यम से धर्म की गहनतम अनुभूतियों से जुड़ गयी है और उसका दर्शन, मनन एवं चिन्तन साधकों के लिए साधना का एक अंग बन गया है। वैष्णवों के इस लीला-चिन्तन को जाने बिना रासलीला के स्वरूप का परिचय पा सकना सम्भव नहीं। 'रास' मानों एक सिद्धान्त है, जीवनदर्शन है, विश्वगति है और अपने सम्बद्ध रूपों में अनेक प्रतीकों की सृष्टि है। 'रस' के इन प्रतीकों को स्वीकार किया जाय अथवा नहीं, इतना तो मानना ही होगा कि रासलीला का सिद्धान्त एक ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिससे सृष्टि का कण-कण स्पन्दित है। प्रत्येक परमाणु उस अनन्त रूप के लीला-स्पन्दन से स्पन्दित है।

रासलीला वेदस्वरूप है। रासपञ्चाध्यायी के अध्ययन से स्पष्ट है मानो गोपियाँ वेद की ऋचाएँ हैं और भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् अक्षरब्रह्म वेदपुरुष हैं। बृहद् वामनपुराण के अनुसार श्रुतियों और ऋचाओं के तपस्या करने के कारण गोपी-देह की प्राप्ति हुई थी। पद्मपुराण के पातालखण्ड में भी गोपियों को श्रुतिस्वरूपा कहा गया है। इस दृष्टि के अनुसार वेदार्थ की प्रमुखता देते हुए रासलीला को वेदत्व का विस्तार माना गया है। ब्रह्मविद्या की दृष्टि से रासलीला श्रुतिवाक्य 'तत्त्वमसि' का ही स्वरूप है। उपनिषदों के अनुसार श्रीकृष्ण वेदान्तवेद्य तत्त्व हैं। तत्पदार्थ भगवान् हैं एवं त्वं पदार्थ व्रजांगनाएँ हैं। इन दोनों का रमण अथवा ऐक्य ही रासलीला है। रमण का अर्थ है तत् से त्वं का ऐक्य। जो अन्तःकरण विवेकशील है उस अन्तःकरण-रूपी वृन्दावन में यह तत्पदार्थ भगवान् त्वं पद के अर्थभूत अनन्त जीवरूप व्रजांग-नाओं के साथ रमण को अर्थात् अपने साथ उनमें तादात्म्य स्थापित करने को प्रकट होता है क्योंकि असली रमण तो यही है कि नायक और नायिका में देशकाल और वस्तुरूप व्यवधान से रहित सम्मिलन हो, यही पारमार्थिक रमण है।

रासलीला योगस्वरूपा है। रासपञ्चाध्यायी में श्रीकृष्ण को 'योगेश्वरेश्वर' एवं 'आत्मन्यवरूहसौरत' आदि विशेषणों से स्मरण किया जाता है। 'श्री बलदेव-प्रसाद मिश्र' रासलीला को योग दृष्टि से प्रतीकात्मकता प्रदान करते हुए कहते हैं—अनाहतनाद ही श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि है। अनेक नाड़ियाँ गोपिकाएँ हैं। कुल कुण्डलिनी श्रीराधा हैं और मस्तिष्क का सहस्रदल कमल ही वह सुरम्य-वृन्दावन है, जहाँ आत्मा व परमात्मा का सुखमय सम्मिलन होता है तथा जहाँ पहुँचकर ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ सुरम्य रास रचाती हुई नृत्य-क्रिया करती हैं। योगी लोग सुषुम्ना के निम्नभाग में प्रसुप्त कुल-कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर उसे क्रमशः षट्-चक्रों और ग्रंथियों में ले जाते हुए सहस्रार चक्र में प्रविष्ट करते हैं। कुण्डलिनी के वहाँ पहुँचने पर अमृत का क्षरण होता है, रस की वर्षा होती है। ललना अपने प्रियतम से मिल जाती है। रासलीला में योगपरक अर्थ में श्रीराधा को महाकुण्डलिनीस्वरूपा माना गया है। इडा-पिंगला नाड़ियाँ ही गोपियाँ हैं।

अनेक चक्र ही निकुंज हैं, परन्तु अन्त में सहस्र-कमलरूपा सुरति-वाटिका वृन्दावन में पहुँचना है। यहीं श्रीकृष्ण विराजमान हैं, यहीं राधा-रमण होता है, रस की अखण्ड वर्षा और अनन्त आनन्द की उपलब्धि भी यहीं होती है, यही महासुरत है, नित्य रास है। कृष्णभक्त इस कुल-कुण्डलिनीरूपी राधिका का कृष्ण ब्रह्म के साथ वंशीवट के निकट मस्तिष्क के पास रास-विलास देखा करते हैं। डॉ॰ जगदीश भारद्वाज 'सत्यार्थविवेक' के आधार पर लिखते हैं, जब तक कुण्डलिनी शक्ति नीचे की ओर रहती है, वह विषयों की ही ओर अग्रसर रहती है। योगी इसकी अधोमुखी वृत्ति को यौगिक क्रियाओं से ऊर्ध्वमुखी कर देते हैं जिससे शक्तिस्वरूपा कुण्डलिनी परमात्मा की ओर चलती है और षट् चक्र भेदन करके सहस्रदल कमलस्थित परमात्मा में जा मिलती है। कुल-कुण्डलिनी के साथ और भी अनेक सहचरी शक्तियाँ परमात्मा में मिल जाती हैं। लय योग में यह पुरुष में प्रकृति का लय है। योग में इस प्रकार से प्रकृति में पुरुष के लय होने को ही आध्यात्मिक रासलीला कहा गया है। इस रासलीला में कुल-कुण्डलिनी राधा है। दया, क्षमा, शौच, दम, धृति, शान्ति, स्मृति, अनसूया आदि अन्तःकरण की समस्त शक्तियाँ, इसमें राधा की सहचारिणी वृन्दा-ललिता आदि गोपियाँ हैं। वृन्दावन सहस्रदल कमल है। यहीं कृष्ण परमात्मा का स्थान है। वंशी-ध्वनि अनाहतनाद है। इसीको सुनकर राधिका और अन्य गोपियाँ संसार को छोड़कर श्रीकृष्ण से मिलने को चली आती हैं। राधा और गोपियों को श्रीकृष्ण परमात्मा के दर्शन के लिए जितने कष्ट उठाने पड़े (षट्चक्र मर्दनादि) उन्हीं कष्टों का ही रूप है।

रासलीला का राज-योगपरक प्रतीकार्थ करते हुए डॉ॰ जगदीश भारद्वाज कहते हैं–श्रीकृष्ण आत्मतत्त्व है। मन की वृत्तियों को ही यहाँ गोपिकाएँ कहा गया है। मन गो अर्थात् इन्द्रियों का अध्यक्ष होने के कारण गोप है। मन की वृत्तियों का मन के साथ रमण का एक अर्थ मात्र वैषयिक रमण हुआ जिसका परिणाम पतन है। अतः वृत्तियों को मन की ओर से नियन्त्रित कर परमात्मा कृष्ण की ओर उन्मुख करना ही राजयोग का लक्ष्य है। चित्तवृत्तिरूपा गोपियों का आत्मरूप कृष्ण के साथ नित्य-रमण ही उनका वास्तविक रास है। 'डॉ॰ मुंशीराम शर्मा' 'सोम' ने भी अपने ग्रन्थ 'भारतीय साधन और सूर-साहित्य' में लिखा है, कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं जो वंशी-ध्वनि आदि संगीत स्वरों से गोपियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ या वृत्तियाँ एक मन एक प्राण होकर अन्तरात्मा में मग्न हो जाने की तैयारी करती हैं वैसे गोपियाँ वंशी-ध्वनि से कृष्ण की ओर गति करती हैं। इसके बाद रासलीला नृत्य आता है जो अपनी तरंगों द्वारा गोपियों को कृष्णसामीप्य करा देता है। गोपियाँ कृष्ण के साथ महारास रचने लगती हैं। यही है आत्मा का पूर्णानन्द में लीन हो जाना। रासलीला में प्रेमयोगस्वरूप की व्याख्या करते हुए श्री राधा को भगवद् प्रेम का विग्रह मानते हुए श्री अरविंद कहते हैं–राधा अनन्य भगवद् प्रेम की प्रतिमा है–ऐसा अनन्य भगवत्प्रेम जो प्रेमी की ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक सत्ता से लेकर शरीर

तक सर्वांग में परिपूर्ण और अखण्ड हो, जिसमें निरपेक्ष आत्मदान और पूर्ण समर्पण हो और जिससे शरीर तथा अन्य जड़ प्रवृत्ति में परमानन्द भर जाय।

विद्वानों का ध्यान रासलीला के वैज्ञानिक स्वरूप की ओर भी गया है। वे रासलीला के लय ताल को जीवन की गति के रूप में देखते हैं। प्रकृति का अणु-अणु इस गीतचक्र से बँधा है। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने आधुनिक विज्ञान के अणु-सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए लिखा, जैसी स्थिति सौर मण्डल की है, वैसी ही परमाणु की है और वैसी ही इस शरीर की है, जो परमाणु का केन्द्र (न्यूक्लस) और सौर-मण्डल का सूर्य है वही शरीर की आत्मा है, जैसे परमाणु में घनाणु (प्रोटीन) ऋणाणुओं (इलेक्ट्रोन्स) को सँभाले हुए है और सूर्य सौर मण्डल के ग्रह उपग्रहों से सँभाले हुए है, वैसे ही आत्मा मन बुद्धि इन्द्रियादि को सँभाले हुए है। परमाणु के अन्दर, सौर जगत् के अन्दर और इस शरीर के अन्दर जो एक को केन्द्र मानकर अन्य अनेक परि-भ्रमण कर रहे हैं वह कृष्ण को केन्द्र मानकर गोपिकाओं का नृत्य करना नहीं तो और क्या है ? डॉ० हरिवंशलाल शर्मा भी इसी परिवेश में लिखते हैं–एक मुख्य केन्द्र के आकर्षण के अनुसार इसके चारों ओर गतिमान् आश्रितों की जो गति होती है उसे रास कहते हैं जैसे सौर जगत् में सूर्य केन्द्र है, उसके आसपास ग्रह-उपग्रह की मण्डली है, जो अपने केन्द्र के आकर्षणानुसार अपनी विशेष गति से गतिमान् है। उनकी यह गति ही उनकी रासलीला है।

भारतीय साधना में तत्त्वों की महत्त्वपूर्ण स्थिति है। भारत में शैव, शाक्त, वैष्णव, एवं बौद्ध तंत्रों का युगपत् विकास हुआ है। तन्त्रों में सैद्धान्तिक ज्ञान और तदुपरान्त उपासना की विभिन्न क्रियाओं और विधानों का समायोजन होता है। तन्त्रोपासना मूलतः शाक्तों की अपनी वस्तु है। इन्होंने शक्ति को अपने तन्त्रों में विस्तृत अध्ययन की दृष्टि से त्रिपुरसुन्दरी के रूप में वर्णित किया है और त्रिलोक-सुन्दरी राधा को अभिन्न माना गया है। यह समन्वय शाक्त व वैष्णव दोनों ग्रंथों में प्राप्त होता है। शाक्तों के यंत्र को भगवती त्रिपुरसुन्दरी का यंत्र बताया गया है। डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' रासलीला को रूपक मानकर उसके द्वारा इसी यंत्र को चरितार्थ होना बताते हैं। उनका कथन है कि इस यंत्र में समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और उसका विकास दिखाया गया है। यंत्र के भीतरी त्रिकोण में केन्द्रस्थ बिन्दु है और इसके चारों ओर नव त्रिकोण हैं। उसमें चार त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी और पाँच अधो-मुखी जो क्रमशः शिव और शक्ति के द्योतक हैं। ब्रह्माण्ड में ही सौर जगत् का भी रूप है जिसमें सूर्य केन्द्रस्थ बिन्दु है और नव त्रिकोण नवग्रह हैं। मानव शरीर में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया दिखाई देती है और रासलीला का रूपक तो इसी मण्डला-कार यंत्र को चरितार्थ कर रहा है।

शाक्तों की उपासना-पद्धति में चक्र-पूजा का अपना स्थान है, वाममार्गियों की चक्र-पूजा में समान संख्या में स्त्री और पुरुष भाग लेते हैं और परस्पर सहयोग के पश्चात् वे सहवास करते हैं, परस्पर घूमते हुए इस पद्धति के सम्पादन का नाम

चक्र-पूजा है। श्री जे० एन० फर्कुहर ने रासलीला को इसी चक्र-पूजा की नकल माना है। शैव और शाक्तों के अलावा वैष्णव-तन्त्रों ने भी कृष्णलीलाओं को आध्यात्मिक रहस्यों से युक्त करने की चेष्टा की है तथा रास-लीला में प्रतीकार्थों को स्पष्ट किया है।

श्री वल्लभाचार्य के पूर्व कतिपय वैष्णव उपनिषदों में भी इस लीला के प्रतीकात्मक दर्शन होते हैं। श्रीकृष्ण को ब्रह्म व राधा को शक्ति का प्रतीक मानना तो समस्त उपासकों की सामान्य दृष्टि रही है। गोपालतापिनी उपनिषद् में ॐ की व्याख्या करते हुए 'अ'कार को बलराम, विश्व, 'उ'कार को विश्व तैजस् प्रद्युम्न 'म'कार को अनिरुद्ध और अनुस्वार या अर्धमात्रात्मक को कृष्ण बताया है, जिनमें सबकी स्थिति है। रुक्मिणी को यहाँ मूल कहा गया है। यह कृष्ण का प्रणव स्वरूप है।

श्रीकृष्ण का व्रजसुन्दरियों के साथ रमण ठीक वैसा ही था जैसा एक बालक अपनी परछाईं से खिलवाड़ करता है। रासलीला कृष्ण-जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसने जीवन के अनेक सिद्धान्तों को जन्म दिया है। निष्काम कर्म का स्वरूप गीता में प्रकट हुआ तो निष्काम काम का स्वरूप कृष्ण की रासलीला में। इतनी गोपिकाओं के साथ क्रीड़ा करने पर भी उनके मन में कामविकार उत्पन्न नहीं हुआ। रासलीला कामविकार से मुक्त करने की लीला है, यह कामजयी लीला है।

कोटि-कोटि कामदेवों के सौन्दर्य को पराजित करनेवाले कृष्ण को गोपिकाएँ निर्निमेष दृष्टि से निहारती हैं। कृष्ण को देखकर वे देह, गेह, पति, पुत्र, लोक, परलोक, कर्तव्यकर्म की अवहेलना कर एकमात्र परम धर्मस्वरूप कृष्ण के पास पहुँच जाती हैं। उनकी उत्कट भक्ति और प्रेम से प्रफुल्लित कृष्ण रसमयी रासलीला प्रारम्भ करते हैं। सोलह हजार गोपियों के झुण्ड में दो-दो के मध्य कृष्ण अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। वैजयन्ती माला पहनकर कृष्ण उनके गले में हाथ डालकर नृत्य करते हैं। रास-मण्डल में रसिकराज कृष्ण के साथ नृत्य करती हुई प्रत्येक गोपी आनन्दित हो उठती है। इस अपूर्व रास का उल्लेख सूरदासजी करते हैं—यहाँ श्रीकृष्ण की महारासलीला समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त शाश्वत शक्ति या ऊर्जा का साकार रूप है।

"आजु हरि ऐसो रास रच्यौ,
स्रवन सुन्यौ न कहूँ अवलोक्यौ,
यह सुख अबहूँ लौ कहा सच्यौ॥"

यह महारासलीला कृष्ण और काम के परस्पर प्रत्यक्ष युद्ध करने की और कृष्ण को पराजित करने के स्थान पर काम के स्वयं पराजित होने की लीला है। रास-विलास में मग्न गोपियाँ आनन्द से अभिभूत हो जाती हैं। वस्त्राभूषण अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, शृंगार बिखर जाता है। गोपियों के हाथ नृत्य में थक जाने पर शरद्

ऋतु की चन्द्रिका में कृष्ण गोपिकाओं के साथ यमुना में जल-विहार करते हैं। अगाध सुख वर्षा से गोपियों की मनोकामना पूर्ण होती है—

"रास रस श्रमित यह ब्रजबाल
निसि सुख दे, यमुना तट ले गये,
भोर भयो तेहि काल ॥"

"मन कामना भई परिपूरण, रही न एकौ साध,
सोलह सहस्र नारि संग मोहन, कीन्हों सुख अवगाधि ॥"
"यमुना जल विहरत नंद नंदन संग मिली सुख सारि,
सूर धन्य धरनी वृन्दावन, रवि-तनयासुख कारि ॥"

श्रीकृष्ण की महारासलीला नित्य है, शाश्वत है तथा नित्य नूतन और अखण्ड है।

"नित्य धाम वृन्दावन स्याम।
नित्य उपराधा ब्रजवाम ॥"
"नित्य रास रस नित्य विहार।
नित्यभाव खण्डिता भिसारि ॥"

समष्टि मुक्ति के निमित्त आयोजित इस शताब्दी की योग-तान्त्रिक प्रक्रिया 'अखण्ड महायोग' रासलीला तत्त्व की ही चरम परिणति है। अखण्ड महायोग का सफल क्रियान्वयन महातन्त्रयोगी पं० गोपीनाथ कविराज ने ज्ञानगंज सिद्धलोक के सद्गुरु परमहंस विशुद्धानन्द के संरक्षण में घोर तपस्या द्वारा पूर्ण किया, जिसका मुख्य आधार था 'कुमारी सेवा'। कविराजजी का कथन है कि महाप्रलय के समय समस्त सृष्टि भंग हो जाती है। प्रकृत प्रलय के बाद अभिनव सृष्टि की सम्भावना नहीं रह जाती। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' यह सत्य है, किन्तु प्रलय के साथ अथवा प्रलय के पूर्व चिदानन्दमय संसारहीन और मृत्युहीन नित्य सृष्टि की सम्भावना नहीं रह जाती। अखण्ड महायोग में जो होगा, उसमें काल का सम्यक् अपसारण एवं तत्पश्चात् उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति के साथ-साथ कालहीन नित्य सृष्टि का उदय होगा। दोनों में यही पार्थक्य है। ●

योग-निद्रा एवं स्वप्न-विज्ञान-तन्त्र

सन्त कबीर की उक्ति है—'जागन से सोवन भलो', पर मन में सहज जिज्ञासा उठती है कि जागरण की अपेक्षा निद्रा कैसे भली ? जागरण तो एक प्रेरक शक्ति है, कार्य करने की और निद्रा अकर्मण्यता की द्योतक है। कबीर कर्म की अपेक्षा अकर्मण्यता को कैसे प्रश्रय देते हैं ? आगे स्पष्ट हो जाता है उनकी वाणी 'जो कोई जाने सोय' में। कबीर का संकेत निद्रा के स्थूल रूप से नहीं, इसके सूक्ष्म रूप से है जिसे साधक योग-निद्रा कहते हैं।

मनोवैज्ञानिक अपने निद्राविषयक अध्ययनों में अब तक यह निर्णय नहीं ले सके कि मनुष्य के मस्तिष्क में निद्रा का कब संचार होता है, कारण मनुष्य-शरीर में शयनकेन्द्र कहीं भी इंगित नहीं हुआ है।

यह भी प्रश्न उठता है कि क्या सोते समय स्वप्न देखना आवश्यक है ? स्वप्नों के आने की आवश्यकता पर सभी चिकित्सक सहमत हैं। डॉ० वीन वर्ग भी मानसिक स्वास्थ्य के लिए स्वप्नों की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। स्वप्न-प्रक्रिया की वैज्ञानिक खोज से पता चलता है कि सपनों के माध्यम से क्रोध, चिन्ता, भय तथा अन्य नाना प्रकार की भावनाओं एवं विचारों का शमन हो जाता है और मानसिक तनाव खत्म हो जाता है। स्वप्न के माध्यम से मनुष्य दैनिक कार्य से उत्पन्न संवेगों को शांत कर दूसरे दिन की गतिविधि की जानकारी कर सकता है। स्वप्नों के द्वारा केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र का समन्वय होता है, क्योंकि प्राय: देखा गया है कि स्वप्नावस्था में आँखों की पुतलियाँ चलती रहती हैं। अधिकांश स्वप्नों को स्मरण नहीं रखा जा सकता जब तक कि स्वप्न देखते समय जाग न उठा जाय।

लगभग सभी मनुष्य स्वाभाविक शारीरिक तनाव से गुजरते हैं। इस वृत्ति के अन्दर डेढ़ व दो घंटे के शयन में पाँच से दस मिनट का समय स्वप्नावस्था के अन्तर्गत आता है। स्वप्नावस्था में मनुष्य को आनन्द में पहुँचने अथवा गिरने के कारण किसी चिन्ता व घबड़ाहट की आवश्यकता नहीं है। शयन में विघ्न डालना विशेषकर हानिकारक नहीं है, यदि बाद में नींद पूरी कर ली जाय। यदि स्वप्न में रुकावट आ जाती है तो १५ से २० मिनट तक स्वप्न लौटकर आते हैं। नशीले पदार्थों के सेवन तथा अन्य बुराइयों से शयन तथा स्वप्न की स्वाभाविक प्रक्रिया के लिए खतरा होता है। दबे हुए स्वप्नों के कारण निद्रा, जो मानसिक स्वास्थ्य के लिए अति लाभप्रद है, भंग हो जाती है। दवा की गोलियों के खाने से भी साधारण अवस्था नष्ट हो जाती है और अनिद्रा का रोग हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर एक शयनबिन्दु होता है। यह एक चमत्कारिक अवस्था भी है और इसकी खोज आप स्वयं कर सकते हैं। यदि आप का शयनबिन्दु ११-३० बजे रात्रि है और आप १२-३० तक सोते हैं

तो आप को शयन में कष्ट हो सकता है और थकान महसूस कर सकते हैं। कभी-कभी आप को ऐसा भी हो जाता है कि थकान से सो भी नहीं सकते। इस अवसर पर मस्तिष्क की गति तीव्र हो जाती है और शरीर में शक्तिक्षीणता का आभास होने लगता है। इस सम्बन्ध में लिखित निम्नलिखित बातें याद रखनीं चाहिए—

१. आप के सोने की प्रवृत्ति अन्य बातों की अपेक्षा जिनमें कृत्रिम उपाय भी शामिल हैं, अधिक आवश्यक है।

२. डॉ० बीन वर्ग के अनुसार सोने के समय सम्मोहन चिकित्सा आवश्यक है।

३. अनिद्रा को समाप्त करने के लिए सोते समय तनाव, घबड़ाहट का न होना आवश्यक है, शिथिलीकरण की प्रवृत्ति ही वास्तविक निद्रा को प्रश्रय देने की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। नींद की चिन्ता न करके शारीरिक संवेदनाओं और भावनाओं पर नियन्त्रण आवश्यक है।

४. सोते समय दिन की अच्छाइयों व बुराइयों को सोचना व चिन्तन करना अहितकर है। शिथिलीकरण की इस अवस्था में अच्छा हो यदि गहरी स्वासों द्वारा मन और हृदय को आनन्दमय स्थिति की ओर ले जाने का अभ्यास किया जाय। ध्यान रखें कि आप का मन एवं शरीर पूर्णरूपेण उन्मुक्त हो। आठ घण्टे सोना आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है तनावमुक्त होने की। तनाव से रहित व्यक्ति आनन्द से सोता है।

शारीरिक थकान को मिटाने के लिए केवल सात घण्टे सोना आवश्यक है। नरवस प्रकृति के मनुष्यों के लिए ५-६ घण्टे सोना मानसिक थकान तथा ज्वर आदि को दूर करने के लिए लाभदायक है। रात में अधिक जागना व शरीर को आराम न देना तामसिक है। अतः निद्रा को रूपान्तरित करना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि सोने के समय अधिक से अधिक चेतना में रहें। इसके लिए नींद को रोकने की अपेक्षा यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य सोते समय चेतना को कैसे जागृत रखे। यदि मनुष्य ने इस पर नियंत्रण कर लिया हो, वह अपनी साधना प्रक्रिया में सोते समय भी उसी प्रकार जागरूक है, जैसा कि जागृतकाल में ध्यान करता है तो साधक सोते समय भी साधनारत रहकर चेतना के विभिन्न स्तरों तथा धरातलों पर पहुँच जाता है। इस समय वह अपनी शारीरिक स्थिति से ऊपर उठकर उपयोगी अनुभवों को प्राप्त करता है। इसीलिए यह कहा गया है कि साधक को जल्दी सोकर प्रातःकाल शीघ्र उठना चाहिए।

सूर्यास्त के पश्चात् शांत वातावरण का समय निद्रा के लिए सहायक होता है। सूर्योदय के साथ-साथ शक्ति का भी प्रादुर्भाव होता है जिसके कारण मनुष्य कर्मशील अथवा कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। निद्रा के लिए अधिक देर तक सोने की अपेक्षा सोने की कला को समझना अति आवश्यक है। निद्रा ही मनुष्य की थकान दूर करने के लिए, उसे आराम पहुँचाने के लिए, प्रभावशाली होती है। इसके लिए

सोते समय एक प्याला दूध या फलों का रस लेना चाहिए। ब्यालू अथवा रात्रि का भोजन हल्का होना चाहिए। सोते समय मन शान्त हो। इसके अन्दर इच्छाएँ, वासनाएँ तथा मन में विकारों का स्फुरण न हो। मन में किसी प्रकार की चंचलता न हो। यदि व्यक्ति साधक हो तो सोते समय उसे ध्यान में चला जाना चाहिए। इससे वह सोते समय अचेतनता या बेहोशी की दशा में नहीं जा सकता। यदि आप थके हों तो शरीर को इस प्रकार स्थिर कर लें जैसा कि एक मुलायम कपड़े का टुकड़ा हो। यह शिथिलीकरण सम्पूर्ण शरीर एवं मस्तिष्क तक होना चाहिए। इस समय ध्यान करने की भी आवश्यकता नहीं। अधिक साधना करने के उपरान्त अन्तर्ज्योति उत्पन्न होती है और स्वर्गीय जीवन की ओर चेतना उन्मुख होती है। यहीं स्वर्गीय अथवा दैवी शक्ति से अन्तर्प्रेरणा का मिलन होता है। यदि इस समय नींद आ जाय तो सोने की सबसे उत्तम दशा होगी और आप हल्कापन महसूस करेंगे और प्रातः उठते समय भी ताजा अनुभव करेंगे। सोते समय साधक के लिए यह आवश्यक होगा कि वह एक मंत्र अथवा ध्वन्यात्मक मंत्र जपे जिससे सारा तामस एवं शारीरिक व मानसिक बोझ नष्ट हो जाय। अधिक-से-अधिक कुल सात घण्टे सोना चाहिए। पहली निद्रा ३ घण्टे की हो।

चिकित्सा-शास्त्रानुसार शयन-काल में अनन्त शान्ति की अवस्था केवल दस मिनट की रहती है। अध्यात्म में वही सुषुप्ति है। बिना इस अवस्था के सोना निरर्थक है। वास्तव में व्यक्ति सम्पूर्ण शयन-काल में स्वप्न देखता रहता है, केवल कुछ ही क्षणों के लिए ब्रह्मलोक में पहुँचता है तो स्वप्न नहीं देखता है।

इस सम्बन्ध में (पद्मपुराण) में भी चर्चा आयी है कि कोई व्यक्ति श्वास द्वारा गुरु प्रदत्त मार्ग में तैंतीस करोड़ जप कर ले तो उसे दूसरा शरीर नहीं ग्रहण करना पड़ता। मनुष्य दिन में केवल इक्कीस हजार छः सौ साँसें लेता है। अतः एक जन्म में इतनी बड़ी संख्या में जप नहीं पूरा कर सकता। अतः शयन-काल की जप-प्रक्रिया ही अधिक सहायक होती है। 'सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा।' मानस के उत्तरकाण्ड में तुलसी ने भी कहा है। बौद्धों की 'महासत्ति पठ्ठान सुत्त' में वर्णित आनापानसति की प्रक्रिया भी यही श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया है।

मनुष्य आत्मनिरीक्षण तथा अन्य सावधानी बरतने पर स्वप्नों से बच सकता है। उत्तेजनात्मक स्वप्नों तथा अधिक वासनाओं की ओर उन्मुख होनेवाले स्वप्न देखना उचित नहीं। वास्तव में शयनावस्था में ही मनुष्य की असली प्रकृति अथवा स्वभाव उभरकर ऊपर आता है, क्योंकि रात्रि-काल में अचेतन मन स्फूर्ति से भरा होता है। प्रश्न यह उठता है कि हम अपनी स्वप्ननिद्रा के टूटने के बाद ही क्यों भूल जाते हैं, कारण कि स्वप्न देखते समय हम शरीर के कुछ ही हिस्सों से सम्बद्ध रहते हैं। हम केवल उन्हीं स्वप्नों को याद रख पाते हैं जो स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। स्वप्नों पर नियन्त्रण पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम इन्हें याददाश्त के लिए जागने पर लिखें और प्रगाढ़ इच्छा और चेतनानुकूल मोड़ लें।

बच्चों में यह प्रक्रिया देखी जाती है कि वे परियों के स्वप्न देखते हैं और स्वप्न का यह सिलसिला प्रतिदिन सोते समय जारी रहता है। इन्हींके आधार पर वे परियों की अद्भुत कथाओं को, जिन्हें स्वप्न-काल में देखा था, लिख डालते हैं। वास्तव में बाल्यकाल के स्वप्न ही उनके भावी जीवन की वास्तविकता हैं। स्वप्न के माध्यम से बच्चे रचनात्मक कार्य कर सकते हैं।

वास्तव में इस प्रकार के स्वप्नों के माध्यम से हम दूसरे दिन की अथवा आगामी घटनाओं को जान सकते हैं। एक स्थान पर पहुँचकर हम अनन्त सत्ता से सम्बद्ध हो जाते हैं। जो सम्पूर्ण ज्ञान की स्थिति में पहुँच जाता है वह आत्मज्ञान के द्वारा भूत, वर्तमान एवं भविष्य की स्थिति को जान लेता है, किन्तु जो स्थिति के मूल पर पहुँच जाता है अर्थात् जिन्हें अनन्त शक्ति का आभास हो जाता है वे यह भी भूल जाते हैं कि स्वप्नों में क्या देखा था। स्वप्न-सिद्धि में व्यक्ति विशेषकर आत्मनियन्त्रण के बाद ही सफल होता है। इन्हें स्वप्नावस्था में अधिकांश स्वप्नों के माध्यम से भावी घटनाओं के सम्बन्ध में चेतावनी भी मिल जाती है।

मनुष्य थकने पर जब सोता है तो साधारणतः उसका प्राकृतिक शरीर आराम चाहता है। थककर सो जाने पर उसकी प्राकृतिक चेतना अवश्य सो जाती है किन्तु उसका सूक्ष्म प्राकृतिक शरीर या चेतना अथवा मस्तिष्क नहीं सोते। वे चलायमान रहते हैं। इस प्रकार उनकी शारीरिक चेतना उनकी प्राकृतिक चेतना से अलग रहती है। इस अवस्था में सोना बेहोशी अथवा अचेतन-अवस्था कहलाती है, क्योंकि इसमें शरीर का कुछ हिस्सा ही सोता है और कुछ हिस्सा मन के चलायमान होने के कारण जागता रहता है। इस अवस्था में प्राकृतिक चेतना के माध्यम से मन की उलझन के कारण अधिकांश सोते-चलने की बीमारी हो जाती है। इस बीमारी से सोते समय प्रबल इच्छा-शक्ति को जागृत करने के बाद मुक्ति मिल सकती है।

स्वप्न-विज्ञान तन्त्र

अनवरत चिन्तन द्वारा विचारणीय वस्तु की आकृति निर्धारित होती है। स्थूल जगत् इसीकी परिणति है। विश्व में कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जिसमें शब्द कारणरूप से विद्यमान न हो। मन्त्रशास्त्र की भित्ति इसी पर टिकी है। ज्योतिष, आयुर्वेद, तन्त्र आदि विज्ञान स्वप्न के सात भेद बताते हैं, जो क्रमशः निम्नलिखित हैं—

१. जागृत-अवस्था में दृष्ट वस्तुओं का स्वप्न में देखना ही दृष्ट है।

२. प्राचीन अथवा नवीन सुने हुए विषयों को देखना ही श्रुत नामक द्वितीय स्वप्न भेद है।

३. जागृत-अवस्था में परीक्षित वस्तुओं को देखना अनुभूत नामक तृतीय भेद है।

४. जागृत-अवस्था में इच्छित वस्तुओं का देखना प्रार्थित नामक चतुर्थ भेद है।

५. कल्पना की हुई वस्तुओं का देखना कल्पित है।

६. दृष्ट अथवा श्रुत विषयों से विलक्षण वे स्वप्न जो, मंत्र-अभ्यास आदि से दिखाई देते हैं, उन्हें भाविक कहते हैं।

७. वात, पित्त एवं कफ-दोषजनित स्वप्न दोषज कहलाते हैं।

इनमें से प्रथम पाँच प्रायः मिथ्या ही होते हैं जब कि अन्तिम दो (भाविक और दोषज) सत्य होते हैं। अन्तिम दोषज स्वप्नविषयक विचार चरकसुश्रुत आदि ग्रन्थों से अवलोकनीय हैं जब कि यहाँ पर भाविक नामक स्वप्न का विषय ही विचारणीय है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखने योग्य है कि नमोन्त मंत्र विराट् किंचित् चक्रान्तर्गत होते हैं तथा हूँ फडन्त पदयुक्त मंत्र ताण्डव चक्रवर्ती हैं। एवमेव स्वाहान्त मंत्र त्रिपुरा चक्र में गिने जाते हैं। इस प्रसंग में मन्त्राभ्यासजनित भाविक स्वप्न दर्शनजनित फलों का संक्षिप्त शुभाशुभ निम्नवत् ज्ञातव्य है।

शुभ स्वप्न—

राजा, ब्राह्मण, देवता, सिद्धगुरु, श्वेतवस्त्र, गन्धर्व, किन्नर, पर्वतारोहण, श्वेत वृषभ, पुष्पित वृक्ष का लाभ या दर्शन तथा आरोहण, अपना शिरच्छेद, जल-स्नान, मद्य, मांस, दुग्धपान, वेद-ध्वनि, कदली वृक्ष, देवपूजन आदि शुभ फलद हैं।

अशुभ स्वप्न—

तैलाभ्यंग, कृष्ण वृषभ, दक्षिण गमन, स्व-अंगभंग-दर्शन, सूतिका-गृह-गमन, श्राद्धादि प्रेत-कार्य, भूत-प्रेतालाप आदि स्वप्न अनिष्टकर होते हैं।

सर्वमुक्ति के सक्रिय पोषक कविराजजी

मानवता के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से विदित होता है कि मनुष्य दुःख, आपत्ति, अभाव, अतृप्ति आदि दैहिक, दैविक एवं भौतिक व्यथा से सदा से ही संघर्ष-रत रहा है। बुद्ध, सुकरात, जोरोस्टर, ईसामसीह आदि ने दैवी सम्भावनाओं की ओर संकेत किया है जिससे मनुष्य अपने संस्कारों पर विजय पाकर स्वभाव की उपलब्धि कर सकता है और दैहिक, दैविक एवं आध्यात्मिक व्याधियों से सदा के लिए मुक्ति पा सकता है। इस सन्दर्भ में मानव-समाज की कुछ महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ, जैसे अवतारवाद की मान्यता, योग-विभूतियाँ, दैवी व्यक्तियों के चमत्कार तथा पर्वों एवं त्योहारों के अवसर पर और विभिन्न ऋतुओं के उत्सव व उल्लास मनाने की प्रवृत्तियाँ उल्लेखनीय हैं। यह प्रवृत्ति सभी वर्गों, जातियों एवं सम्प्रदायों में मिलेगी। वसन्तोत्सव नवजीवन का प्रतीक है। इस अवसर पर प्राणिमात्र भगवान् की प्रार्थना करते हैं, उनके प्रतीक अनुग्रह के प्रति आभार प्रकट करते हैं। हिन्दू होलिकोत्सव मनाते हैं। यहूदी पासोवर (ईस्टर) मनाते हैं और बन्धन से मुक्ति की कामना करते हैं। दैवी कृपा, अनुग्रह एवं करुणा का आह्वान करते हैं। ईसाइयों के लिए होली ईस्टर जेसस के पुनर्जीवन या पुनरुद्धार का महोत्सव, मृत्यु पर विजय का प्रतीक है।

अपने उद्भव और विकास के विगत हजारों वर्षों से मनुष्य विचार, ज्ञान तथा अनुभव के दायरे में चक्कर काट रहा है। इसी वृत्त के अन्तर्गत स्मृतियाँ पलती रहीं और मानव के कार्य-कलाप को गति मिली। मनुष्य स्वयं मकड़ी के जाल में फँसता चला गया। मनुष्य के सम्मुख दूसरी समस्या है चेतना की (चेतना के अन्तर्गत विश्वास, अन्धविश्वास, चिन्ता, एकाकीपन, कष्ट, दुःख, निराशा, अनिश्चितता, अरक्षा आदि सभी कुछ अन्तर्निहित है)। यह प्रक्रिया सर्वव्यापी है जिसमें पूरी मनुष्य-जाति बँधी है। समस्या है मानव-चेतना के रूपान्तरण की। निरन्तर संघर्षरत होने पर भी मनुष्य चेतना की अन्तर्वृत्तियों, दुःख, क्रोध, भय, निराशा, अतृप्ति, अभाव आदि पर विजय नहीं पा सका। योग्यता-अर्जन तथा ज्ञान-विज्ञान की प्रगति से भौतिक सुख-सुविधा भले ही कुछ अंशों में प्राप्त हुई हो, विज्ञान द्वारा अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार से संघर्ष और भयानक संहार की सम्भावनाएँ ही अधिक बढ़ी हैं और मनुष्य आज विनाश के कगार पर खड़ा है।

वास्तव में मनुष्य स्थूलभेदन की प्रक्रिया में ही लगा रहा और सूक्ष्मभेदन में पूर्णतया असफल रहा। विज्ञान द्वारा हुए आविष्कार पूरी मनुष्य-जाति को सुख-सुविधा दे सके। रेडियो, दूरदर्शन, दूरभाष आदि का निर्माण एक व्यक्ति द्वारा हुआ, किन्तु लाभ पूरी मनुष्य-जाति ने उठाया। सूक्ष्म स्तर पर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि आध्यात्मिक साधना के आधार पर मनुष्य ने व्यक्तिगत मुक्ति या मोक्ष

भले ही पा लिया हो किन्तु सर्वमुक्ति का स्वप्न अब तक साकार नहीं हो सका यद्यपि प्रभुपाद जगद्बन्धु, वामाक्षेपा, मेहरबाबा प्रभृति सिद्धों ने इसकी परिकल्पना की है। सर्वमुक्ति की दिशा में उन्मुख अन्तरिक्ष में क्रियाशील कुछ महात्माओं का संकेत भी मिला है। किन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि मनुष्य अपने तपोबल द्वारा दैवी चेतना में स्वयं समाहित हो गया है। स्वयं वह इस चेतना को आयत्त नहीं कर सका। दैवी चेतना का समष्टि में रूपान्तरण ही कविराजजी के 'सर्वमुक्ति स्वप्न अखण्ड महायोग' की आधारशिला है।

इस दिशा में कविराजजी से चौदह वर्ष पूर्व सन् १८७२ में जन्मे अरविन्द ने सत्ता के दोनों छोर मैटर तथा आत्मा या जड़ एवं चेतन के समन्वय अथवा एकीकरण के पूर्ण अनुभव की खोज की। अधिकांश योग-मार्ग आत्मा की खोज में लीन जीवन से दूर हटकर निर्दिष्ट है। किन्तु अरविन्द आत्मा के गुणों को ग्रहण कर या आत्म-उपलब्धि का प्रकाश आनन्द और शक्ति को आयत्त कर मानव-जीवन के रूपान्तरण की प्रक्रिया में संलग्न रहे। उनकी मान्यता थी कि मानव-सृष्टि मात्र माया, दम्भ या भ्रान्ति नहीं है, जिसका उद्देश्य केवल निर्वाण या स्वर्गादि पाना है। अरविन्द ने मानव में एक बृहद् आध्यात्मिक विकास की क्षमता देखी। उनकी मान्यता है कि इस भौतिक जड़ता में दैवी चेतना के क्रमिक विकास की सम्भावनाएँ हैं। अब तक के मानव के आध्यात्मिक विकास में मन सर्वोच्च माना गया है, किन्तु इसके ऊपर अतिमानस भी है जिसे हम शाश्वत सत्यबोध कह सकते हैं। अतिमानस के अवतरण को उन्होंने मानवता की उत्कृष्ट उपलब्धि मानी और इसमें दैवी चेतना के विकास तथा उससे सतत युक्तता के आधार पर मनुष्य-जीवन तथा शरीर के रूपान्तरण की अलौकिक क्षमता देखी। अरविन्द का उद्देश्य इसी सम्भावना को चरितार्थ करना था जिसके लिए वे कृतसंकल्प थे।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने अरविन्द के अतिमानस या चैत्य पुरुष के अवतरण की संज्ञा को चन्द्रावतरण का नामकरण किया। उनकी यौगिक सम्भावनाओं की पूर्ति के लिए अपने सद्गुरु परमहंस विशुद्धानन्दजी के निर्देश से कार्यरत अखण्ड महायोग या सूर्यविज्ञान अथवा सूर्यावतरण के लिए सत्रह-सत्रह मास की तीन बार घोर तपस्या की। परमहंस विशुद्धानन्दजी १०० वर्ष पूर्व इस मत्यु लोक में अवतरित हुए थे और परमहंस भृगु रामदेव की कृपा से गुरुधाम ज्ञानगंज गये और वहाँ बीस वर्ष तक तपोरत रहकर सूर्यविज्ञान, नक्षत्रविज्ञान आदि की सिद्धि प्राप्त की जिसका एकमात्र उद्देश्य था मानव की सर्वदुःख-निवृत्ति। सूर्यविज्ञान ही अखण्ड महायोग-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। इसी महाविज्ञान को मृत्युलोक में अवतरित करने के लिए ही विशुद्ध सत्ता के अवतरण परमहंस विशुद्धानन्द प्रयत्नशील रहे, किन्तु इस विज्ञान का मात्र पूर्वांश ही अवतरित कर सके। शिष्यों द्वारा समुचित सहयोग न पाने से उन्हें शरीर का संकोच करना पढ़ा। इसके पश्चात् इस महाकर्म के शेष अंश को पूरा करने के लिए उन्हें अन्य शरीरों का आश्रय लेना पड़ा किन्तु वास्तव में यह भी उन्हीं के ही

शरीर थे, क्योंकि वे दीक्षाकाल में ही उन्हें गुरुदत्त काय दे देते थे। कई शिष्यों ने यह आवाहन स्वीकार किया। उनमें से प्रमुख थे, कविराजजी।

कविराजजी के ही शब्दों में महायोग का अर्थ है अनन्त प्रकार के असंश्लिष्ट और विक्षिप्त भावों को एक सूत्र में सँजोकर उसको तादात्म्य रूप में प्रतिष्ठित करना। शिव के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोक और लोकान्तरों का परस्पर योग, लोकों के साथ लोकातीत का योग आदि सभी महायोग के अन्तर्गत हैं। तात्त्विक दृष्टि से काल को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—महाकाल और खण्डकाल। महाकाल निरन्तर सृष्टिशील और अखण्ड है। खण्डकाल अतीत, वर्तमान और अनागत—तीन रूपों में बँटा है। काल का यह स्रोत अनादिकाल से चला आ रहा है किन्तु एक ऐसी स्थिति भी आती है जहाँ त्रिकाल नहीं है। एकमात्र नित्य वर्तमान अखण्डकाल विराजमान रहता है। व्यष्टि, समष्टि तथा महासमष्टि—सभी काल के नियन्त्रण में है। किन्तु सत्यराज्य यथार्थ गुरुराज्य है जो द्वन्द्वातीत है। वहाँ रात-दिन नहीं, सृष्टि-संहार नहीं तथा चित्-अचित् का विभाजन नहीं। यही गुरुराज्य है जो वास्तविक स्वराज्य है। यहाँ सभी वस्तुएँ नित्य प्रकाशित रहती हैं। किसीका परिणाम नहीं होता। इसी अखण्ड महाकाल में उपर्युक्त महायोग की स्थिति ही अखण्ड महायोग है।

कविराजजी ने अरविन्द के योगमार्ग तथा परमहंस विशुद्धानन्द के सूर्यविज्ञान एवं आगम-शास्त्रों में वर्णित परातन्त्र की सेवा कर्म-पद्धति (कुमारी-सेवा) का अद्भुत समन्वय कर अखण्ड महायोग की दिशा में विशेष प्रगति की। मात्र माँ की पुकार अवशेष रह गयी है, उसीकी प्रतीक्षा है, शिष्यगण उस सीमा तक माँ की भावभरी पुकार नहीं कर सके। अखण्ड महायोग की साधना में मनुष्य का श्रेष्ठतम प्रयत्न और परमात्मा के अनुग्रह की अपेक्षा है। एक के लिए चाहिए पुरुषकार और दूसरे के लिए एकीकरण। पुरुषकार के लिए चाहिए कर्मगत कौशल। पुरुषकार द्वारा तत्त्वों का लय करना पड़ता है, सारा विश्व पृथ्वी से लेकर महामाया तक विस्तृत है। प्रथम तत्त्व जितना व्यापक है, दूसरा तत्त्व उससे अधिक व्यापक है। अन्तिम तत्त्व सबसे अधिक व्यापक है, व्याप्य तत्त्व से व्यापक तत्त्व की प्राप्ति का उपाय एकमात्र कर्मगत कौशल है। दूसरा तत्त्व प्राप्त होते ही उसके मण्डल की प्राप्ति होती है और अन्तिम तत्त्व की प्राप्ति पर सारा विश्व उसके अधिकार में आ जाता है। इस प्रकार साधक व्यक्तिश्रेष्ठ पुरुषकार द्वारा एकीकरण की प्रक्रिया पूरी करता है।

अखण्ड महायोग की पूर्णता अमरत्व-प्राप्ति, निराकार प्रेम और अन्त में प्रेम-साधना में है। इस योग से संसार में वैचित्र्य तथा विभिन्नता रहने पर भी भेद नहीं रहता। एक की प्राप्ति से सबकी प्राप्ति का सम्बन्ध नित्य लगा रहता है। जगत् की वर्तमान स्थिति में ऐसा है नहीं। एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति तभी सम्भव है जब समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि में सारे संसार में तादात्म्य प्रतिष्ठित हो। अखण्ड

महायोग की प्रेम-साधना परमेश्वर की महाकरुणा प्राप्त कर अपनी आश्रित सत्ता को अनुगृहीत करने में है। परमेश्वर की कृपा मनुष्य के कर्म या ज्ञान पर निर्भर नहीं है, कर्म का फल है ऐश्वर्य तथा ज्ञान का कैवल्य। इन दोनों से महाकृपा द्रवीभूत नहीं होती। वह मात्र परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति पर आश्रित है। महाकृपा का संचार होते ही मनुष्य में शिवत्व आ जाता है, कारण कि उस व्यक्ति में स्वयं परमात्मा की क्रियाशक्ति ही काम करने लगती है और उसके विकास होने पर शिवत्व पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। कर्म और कृपा के समन्वय से ही योगी अखण्ड महायोग के मार्ग पर प्रशस्त होता है।

अखण्ड महायोग का उद्देश्य है गुरु-कृपा के प्रभाव से काल की निवृत्ति। खण्ड-रूप से यह कृपा अनादि काल से होती चली आ रही है, किन्तु इससे सामूहिक कल्याण पूर्णरूप से नहीं हो सकता। इसके लिए आवश्यक है मोक्षपद की ओर आरोहण का कार्य समाप्त कर महाशक्ति के साथ अपना तादात्म्य सिद्ध करे। महा-शक्तिसम्पन्न होकर योगी महाप्रेम की साधना के लिए विश्व में अवतरण करे। इस अवतरण का उद्देश्य है विशुद्ध प्रेम की साधना। इसी महाकरुणा से प्रेरित हो महात्मा बुद्ध ने महाबोधि प्राप्त करने पर भी निर्वाण में प्रवेश न कर संसार के दुःखी जीवों के उद्धार के लिए शिव संकल्प किया था। इसी प्रक्रिया में आज भी गुरुधाम ज्ञानगंज में तपस्वीगण साधनारत हैं जिनका एकमात्र लक्ष्य है सर्वदुःख-निवृत्ति द्वारा सर्वमुक्ति की अवधारणा। अखण्ड महायोग की देन कविराजजी के योग और तन्त्र के पूर्ण समन्वय का प्रतीक है जो मानव-सृष्टि-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगा। तान्त्रिक अध्यात्म-दृष्टि का लक्ष्य इसी परिपूर्ण अवस्था को पाना है, मात्र स्वर्ग आदि ऊर्ध्वलोक, लोकान्तर या कैवल्य-प्राप्ति नहीं। ●

मानस में शाक्त-दृष्टि

साधारणतः रामचरितमानस को लोग वैष्णव-ग्रन्थ मानते हैं विशेषतया इसलिए कि राम विष्णु के अवतार मान्य हैं किन्तु यह धारणा निर्मूल है। 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' मानस में निगम या वेदों के साथ ही आगम-तन्त्र का भी समन्वय है। इसके साथ ही 'क्वचिदन्यतोऽपि'—कुछ और भी है। इसके अन्तर्गत हम साबर आदि मन्त्रों को ले सकते हैं। आगम-शास्त्र के अन्तर्गत वैष्णव एवं शैव दोनों ही हैं

गोस्वामीजी ने रामायण के प्रारम्भ में ही "तत्सत् अखण्डैकरसजानकी-जीवनमूर्तये नमः" मन्त्र लिखकर शक्ति को ही आदि सृष्टि का स्रोत मानकर शक्ति का ही स्मरण किया है। यहाँ मन्त्रस्थ जानकी शब्द ही शक्ति का बोधक है।—

"आदि शक्ति जेहि जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥
वाम भाग शोभित अनुकूला।
आदि शक्ति छवि निधि जग मूला॥"

'सौन्दर्यलहरी' में एक श्लोक है—**'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि। अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि प्रणतुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति'**॥ अर्थात् शिव में शक्ति से युक्त होकर ही प्रभु होने का सामर्थ्य है, अन्यथा नहीं। शिव बिना शक्ति के शव है। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' के अनुसार निगमों अर्थात् वेदों द्वारा अर्जित ज्ञान इन्हीं ऋषियों की देन है, किन्तु आगमिक अथवा तान्त्रिक ज्ञान अनुभूत एवं प्रयोगात्मक है। दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं और तुलसी ने मानस में वेदोक्त एवं तन्त्रोक्त की पूर्णरूप से रक्षा की है।

गोस्वामीजी ने सातों काण्डों के मन्त्रों में श्री गणेशजी के मन्त्र को बीजमन्त्र के रूप में गुप्त रखा है। गोस्वामीजी ने भी—

'महिमा जासु जान गनराऊ।
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥'

प्रमाण से गणेशजी को प्रथम पूज्य मानकर उन्हींका मन्त्र सर्वप्रथम लिखा है। सातों काण्डों में से एक-एक अक्षर के निकालने से सात अक्षर का श्री गणेश-मन्त्र निकलता है, जैसे प्रथम काण्ड के मन्त्र का बारहवाँ अक्षर 'व', द्वितीय काण्ड के मन्त्र का पाँचवाँ अक्षर 'न', तृतीय काण्ड के मन्त्र का पाँचवाँ अक्षर 'य', चतुर्थ काण्ड के मन्त्र का चौथा अक्षर 'क', पंचम काण्ड के मन्त्र का तेरहवाँ अक्षर 'य', छठे काण्ड के मन्त्र का पन्द्रहवाँ अक्षर 'न' और सातवें काण्ड के मन्त्र का आठवाँ अक्षर 'म' आदि। इन्हीं सातों अक्षरों के मिलने से यह सप्ताक्षर मन्त्र निकला है। जैसे

'पार्वती परमेश्वर उमाशंकर के हृदय में गणेशजी विराजमान हैं, वैसे ही तुलसी की रामायण के हृदय में श्री गणेशजी का मन्त्र विराजमान है।' अमरकोश में भी इनका प्रथम नाम 'विनायक' ही लिखा है। यही कारण है कि तुलसी ने श्री गणेशजी के 'विनायकस्य नमः' मन्त्र को सातों काण्डों के मध्य में बीजरूप में रखा है। इसके बाद बालकाण्ड में शक्तिरूप जानकी का मन्त्र और उत्तरकाण्ड में नारायणरूप राम का मन्त्र लिखकर मध्य में सभी देवताओं के मन्त्र लिखे हैं।

अन्य प्रसंगों में भी तुलसी ने शक्ति को प्रश्रय दिया है। विवाह-प्रसंग में वाटिका में पुष्प-चयन के बाद सीताजी गौरी-रूप में शक्ति का ही आशीर्वाद लेने जाती हैं। श्रीराम ने युद्ध के प्रारम्भ में शक्ति की ही उपासना की है। निराला की सुप्रसिद्ध 'राम की शक्ति-पूजा' कविता का आधार भी शक्ति ही है। मेघनाद ने लक्ष्मण पर शक्ति का प्रयोग ब्रह्मास्त्र विद्या (जो कि दस महाविद्याओं के रूप में पीताम्बरा है) के द्वारा किया था। लक्ष्मण का किसीके द्वारा न उठाया जा सकना स्तम्भिनी शक्ति का ही प्रयोग है। शक्ति के ही उपयोग से हनुमान्‌जी को बाँधकर रावण की सभा में उपस्थित किया गया तथा अंगद का पैर जमीन पर जमा दिया गया। समुद्र-लंघन में भी आद्याशक्ति की विविध शक्तियों का निदर्शन है। अहिरावण द्वारा राम व लक्ष्मण को बलि देने के लिए हरण करके पाताललोक ले जाने में मोहनास्त्र का ही प्रयोग है। 'को नहिं जानत है जग में प्रभु संकटमोचन नाम तिहारो' व 'बाल समय रवि भक्षि लियो' में शक्ति का ही दिग्दर्शन है। विश्वामित्र, वशिष्ठ, गौतमादि ऋषियों द्वारा प्रदत्त अस्त्र-शस्त्र तथा शक्तियों के द्वारा ही राक्षसों का वध किया गया। राजतन्त्र नामक ग्रन्थ में इनका विशद वर्णन है। यहाँ तक कि जन-मानस में अंकित 'सीताराम' भी 'श्री राम' का ही हिन्दी में तद्भव रूप है। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाय कि 'सीताराम नाम में तारा ही सामान्य' है तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह 'तारा' ही तो आगम की द्वितीय महाविद्या है।

वैष्णव सिद्धान्तरूप में तो अद्वैत मानते हैं, किन्तु सामान्य जीवन व बाह्य आचार में विभिन्नता के कारण शाक्तों में मतभेद है। तुलसी ने दोनों में ही सामंजस्य स्थापित किया है। विष्णु का अवतार राम जब आचार-विचार से हटकर एक शाक्त की तरह शबरी के यहाँ फल ग्रहण करते हैं, तो दोनों सम्प्रदायों में भेद कहाँ रहा ? वैष्णवों के राम अथवा कृष्णविषयक मन्त्र 'रां रामाय नमः' 'गोपीजनवल्लभाय नमः' आदि की अर्चना-पद्धतियों में भी पूर्णतः तन्त्रोक्त नियम ही मिलेंगे। सर जॉन वुडरफ के अनुसार जैसा उन्होंने 'प्रिन्सिपल ऑफ तन्त्र' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि वैष्णवों की सर्वमान्य पीठ जगन्नाथपुरी में सुरा के द्वारा नैवेद्य का अभिसिंचन किया जाता है, यह शाक्तों की ही पूजा-प्रणाली है, यद्यपि यह प्रक्रिया सर्वसाधारण को विदित नहीं है।

इस शताब्दी के विश्वविश्रुत मनीषी महातन्त्रयोगी म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ने तन्त्र-शास्त्र का उद्धार करके अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर

आगम-शास्त्र में परातन्त्र के विशिष्ट रूप का विश्लेषण किया है। उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि' तथा 'भारतीय संस्कृति और साधना' (दो भाग) के अध्ययनके आधार पर यदि मानस का तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन किया जाय तो हिन्दू-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है तथा जन्म-जन्मान्तर के आपसी झगड़े दूर किये जा सकते हैं। यही नहीं, कविराजजी का तो कहना है कि भारतीय साधना, भारतीय नाम से कही जाने पर भी वह विश्व-मानव की साधना है। संघर्ष-विभीषिका, परस्पर अविश्वास और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा यह विश्व तभी त्राण पा सकता है जब कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का दिव्य सन्देश विश्व-संस्कृति को समर्पित किया जा सके।

सुन्दरकाण्ड–सिद्धियों का साक्ष्य

गोस्वामीजी ने सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में श्री हनुमान्‌जी के पंचदशाक्षर मन्त्र 'हरिः ॐ तत्सत् महाभट चक्रवर्ती रामदूताय नमः' द्वारा उनका स्मरण कर यह सूचित किया है कि श्री हनुमान्‌जी के पूजन से ही सिद्धियाँ मिलती हैं तथा उन्हीं-की सेवा से ही वे सिद्ध हुए और इस सिद्ध सुमेरुकाण्ड की रचना की। यह कथन मन्त्र के आगे के वाक्य 'अथ श्रीमन्मानस महामन्त्रस्य सिद्ध सुमेरुकाण्ड प्रारम्भः' से भी स्पष्ट है। श्री जानकीजी के वरदान 'अष्टसिद्धि नवनिधि के दाता, असबर दीन्ह जानकी माता' से भी श्री हनुमान्‌जी की गरिमा प्रतिपादित है।

इस काण्ड में हनुमान्‌जी के सभी कार्यों का वर्णन करने के कारण गोस्वामी-जी ने वन्दना में ही उनके सारे गुणों को प्रकट कर दिया है जिसके दृष्टान्त भी यहीं उपलब्ध हैं—'अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्। सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥' 'अतुलितबल-धामं' का दृष्टान्त मिलता है 'देखि बुद्धि बल निपुण कपि कहा जानकी जाहु', 'स्वर्णशैलाभदेहं' है 'कनक भूधराकार शरीरा', 'ज्ञाननिधान' का दृष्टान्त 'अजर-अमर गुणनिधि सुत होहूँ', 'वानराधीश्वर' का दृष्टान्त 'देखि हरष कपिराय', 'रघुपति-दूत' का दृष्टान्त 'रामदूत मैं मातु जानकी', 'वातजात', का दृष्टान्त 'जात पवन सुत देवन देखा।'

अमरकोश की टीका में आठों सिद्धियों के नाम दिये हैं—'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः॥' इस काण्ड में हनुमान्‌जी के कार्यों से सभी सिद्धियों के उदाहरण मिल जाते हैं यथा अणिमा—'अति लघुरूप धरेउ हनुमाना।' महिमा—'कपि बढ़ि लाग अकास।' गरिमा—'जेहि गिरि चरन देइ हनुमन्ता। चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता।' लघिमा—'देह बिसाल परम हरुआई, मन्दिर ते मन्दिर चढ़ि जाई।' प्राप्ति (अर्थात् सीताजी के अलभ्य दर्शनों की प्राप्ति)—'देखि मनहिं मन कीन्ह प्रणामा।' प्राकाम्य—'वचन सुनत कपि मन मुस्काना, भइ सहाय शारद मैं जाना।' ईशित्व—'तिन कर भय माता मोहिं नाहीं।' वशित्व (अर्थात् सबको वश में कर लेना—इसके अन्तर्गत पंच महातत्त्व भी हैं, जैसे पृथ्वी—'देह विशाल परम हरुआई।' जल—'कूदि परा तब सिन्धु मँझारी।' अग्नि—'ताकर दूत अनल जेइ सिरिजा जरा न सोते हि कारन गिरिजा।' वायु—'चले मरुत उनचास।' आकाश—'कपि बढ़ि लाग अकास।'

सिद्धियों के सिवा नवनिधियों के भी अधिकारी थे हनुमान्‌जी। अमरकोश की टीका में नवनिधियों में महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व का वर्णन है। महाभारत के सभापर्व में उल्लेख है कि श्रेष्ठ निधियों में

मुख्य जो शंख और पद्म हैं वे अन्य सब निधियों के साथ कुबेरजी की उपासना करती हैं। मनुष्यलोक में मकर, कच्छप, मुकुन्द और कुन्द ये निधियाँ अर्थात् संख्याएँ काम में नहीं आतीं क्योंकि इतना धन ही यहाँ नहीं है। शेष पाँच निधियाँ व्यवहार में आती हैं। श्री हनुमान्‌जी को राम-कृपा से यह नवनिधियाँ तो दुर्लभ थीं ही नहीं, किन्तु इसके अतिरिक्त श्रीराम ने वह पदार्थ दिया जो अतुल, असंख्य और अप्रमेय था। यथा 'प्रति उपकार करउँ का तोरा, सन्मुख होइ न सकत मन मोरा।' सीताजी भी उनसे कहती हैं—'का देहुँ तोहि त्रैलोक्य महँ कपि, किमपि नहिं बानी समा।' श्री भरतजी ने भी कहा है—'यहि सन्देश सरिस जग माही, देखेहुँ करि विचार कछु नाहीं।' यह पदार्थ या श्रीराम की कृपा और उनकी भक्ति, जो आठों सिद्धियों और नवों निधियों से कहीं बढ़कर है। इन्हीं विशेषताओं के कारण सुन्दरकाण्ड का पारायण कर अपने सभी लौकिक एवं पारलौकिक अभीष्ट पा जाते हैं। यों तो नानापुराण-निगमागम-सम्मत मानस के सभी काण्डों में तन्त्र-मन्त्र आदि का समावेश है, किन्तु सुन्दरकाण्ड में इनका बाहुल्य है। यही कारण है कि लौकिक कल्याण के लिए इसकी उपयोगिता सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। कुछ उपासक किष्किन्धा और सुन्दर दोनों काण्डों के सम्मिलित पाठ को अधिक प्रश्रय देते हैं। सुन्दरकाण्ड के कुछ सिद्ध मंत्रों का विवरण जन-हित के लिए दे रहा हूँ। 'जब लगि आवउँ सीतहिं देखी, होइ काज मोहिं हरष विशेषी' यह एक अनुभवसिद्ध मन्त्र है। यात्रा के समय इसके जप से कार्य की सिद्धि अवश्य होती है। गर्गाचार्यजी कहते हैं कि सूर्योदय के पूर्व प्रस्थान करना प्रशस्त है। बृहस्पति का मत है कि यदि यात्रा के समय शुभ शकुन हो तो बेधड़क चला धाय। अंगिरा की सम्मति है कि जिस समय मन में उत्साह हो उसी समय चल दे। 'जामवन्त के वचन सुहाये। सुनि हनुमन्त हृदय अति भाये' के अनुसार हनुमान्‌जी के मन में जामवन्त के वचन सुनते ही उत्साह उमड़ पड़ा। 'अस कहि नाइ सबन्हि कहँ माथा, चलेऊ हरषि हिय धरि रघुनाथा' और उन्होंने सुरसा-विजय, सिंहिका-वध, लंकिनी-विजय, जानकी-दर्शन आदि कार्य सम्पन्न किये। आगे की चौपाइयों और दोहों में हनुमान्‌जी के हृदय में हर्ष का होना प्रकट है। यथा 'होइ काज मोहि हरष विशेषी', 'आशिष दै सुरसा चली हरषि चले हनुमान', 'नव तुलसी के वृन्द तहँ देखि हरष कपिराय', 'राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा, हृदय हरषि कपि सज्जन चीन्हा।' चौबीस चौपाइयों में हर्ष शब्द आने से यह काण्ड मन को उत्साहवर्द्धक तथा कार्य-सिद्धिसूचक माना गया है। इसीलिए इसे सुमेरु काण्ड भी कहते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने भी कहा है—

'सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे सुन्दरी कथा। सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे किं न सुन्दरम्।' सुन्दरकाण्ड में क्या सुन्दर नहीं है? गोस्वामीजी भी कहते हैं—'लागे कहन कथा अति सुन्दर।'

गरिमा सिद्धि-प्राप्ति का अनुभूत बीजमंत्र है, 'जेहि गिरि चरण देइ हनुमन्ता, चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता।'

'शत योजन तेहि आनन कीन्हा, अति लघु रूप पवन सुत लीन्हा' में हनुमान्‌जी की लघिमा सिद्धि की प्राप्ति दिखायी गयी है। सुरसा सात्त्विकी दैवी माया है। अतः हनुमान्‌जी ने इससे प्रेम किया। यथा–'आशिष देइ सुरसा गयी, हरषि चले हनुमान।' यह आशीर्वाद का मंत्र है। जिस समय अपना प्रिय परिजन किसी शुभ कार्य के लिए जाता हो तो इसीको पढ़कर आशीर्वाद दे। 'उमा न कुछ कपि कै अधिकाई, प्रभु-प्रताप जो कालहिं खाई।' यह संकटहरण मंत्र है। 'प्रविशि नगर कीजे सब काजा, हृदय राखि कोशलपुर राजा' किसी कार्य के लिए निकलते समय विश्वासपूर्वक यह मंत्र-चौपाई जपे तो अभीष्ट सिद्ध होगा। यह एक बहुप्रचलित मंत्र है। किसी कठिन कार्य की सिद्धि के लिए, 'गरल सुधा-रिपु करै मिताई, गोपद सिन्धु अनल सितलाई' मंत्र का पाठ करे। श्री हनुमान्‌जी को सुरसा विषरूप थी, वह अमृतमय हो गयी। लंकिनी शत्रुरूप थी, मित्र हो गयी जिसने रावण के ब्रह्मवर से लेकर अन्तिम मर्म तक बतला दिया है। सिन्धु गोपद हो गया है। पुच्छलग्न अग्नि-ज्वाला शीतल हो गयी है। पर्वत धूलि के तुल्य हो गया है। श्रीराम की कृपा का प्रभाव है, 'गरुअ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही।'

श्री हनुमान्‌जी विभीषण से राम-गुण-गान करते हुए कहते हैं कि ऐसे स्वामी को छोड़कर इधर-उधर भटकते हैं तो क्यों न दुःख पायेंगे। चित्त-क्षोभ के समय यह चौपाई-मंत्र अति फलदायी सिद्ध है, 'यहि विधि कहत रामगुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा।'

अशोक-वाटिका में सीताजी को अँगूठी देने के प्रसंग में 'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी, सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी' कहकर गोस्वामीजी ने आपत्ति में पड़ी सीता को ढाढ़स दिलाया है। आपत्तिरहित होने के लिए यह चौपाई-मंत्र विशेष लाभदायक है—

'बूड़त विरह जलधि हनुमाना, भयहु तात मो कहँ जलजाना।' शत्रु के सन्मुख पड़ जाने पर यह मंत्र जपने से उबर जायेगा—

'कनक भूधराकार शरीरा, समर भयंकर अति बल वीरा' तथा परम पराक्रमी शत्रु को वश में करने का यह मूल मंत्र 'प्रभु प्रताप से गरुड़हि, खाइ परम लघु व्याल। आशीर्वाद देने का मंत्र–'आशिष दीन्हि राम प्रिय जाना, होउ तात बल शील निधाना।' व्याधिग्रस्त प्राणी के बचने का मंत्र 'अजर अमर गुन निधि सुत होहू, करहिं बहुत रघुनायक छोहू।'

माता जानकी के अमोघ आशीष वचन सुनकर हनुमान्‌जी बार-बार उनके चरणों में सिर झुकाते हैं और कहते हैं, 'अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता, आशिष तव अमोघ विख्याता', इस मंत्र के जप से प्रतिपक्ष का नाश और ऐश्वर्य-प्राप्ति होती है। उत्तम और शुभ कर्म करते हुए यदि मनुष्य इस चौपाई-मंत्र की रट लगाये रहे तो निर्वाह आनन्दपूर्वक होता रहेगा। यथा—'रघुपति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल

खाहु।' किसी कठिन कार्य की सिद्धि के लिए चलते समय 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना, सगुन भये सुन्दर सुभ नाना' मंत्र-पाठ श्रेयस्कर है।

किसी घोर पाप-कर्म के बनने पर पश्चात्ताप के साथ यह मंत्र-पाठ करे तो क्षमा मिल जाती है—'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा, विश्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा।' अपराध-क्षमा-याचना के लिए दूसरा मंत्र है—'सन्मुख होइ जीव मोहिं जबही, जनम कोटि अघ नासहिं तबही।' किसीसे कष्ट पाने पर यह चौपाई-मंत्र जपे तो उसको बड़ा लाभ हो—'जरत विभीषण राखेउ, दीन्हेउ राज अखण्ड'। सुन्दरकाण्ड का अन्तिम दोहा मानव-कल्याण तथा श्रीराम की भक्ति और मुक्ति के लिए एक अमोघ मंत्र है। यथा—

'सकल सुमंगल दायक, रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिन्धु बिना जलजान॥

कुमारी-सेवा-प्रक्रिया

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज इस शताब्दी के विश्व-विश्रुत विद्वान् सन्त मान्य हैं। आपने भारतीय दर्शन की लगभग सभी धाराओं का विश्लेषण एक विद्वान् व्यक्ति की भाँति ही नहीं किया, अपितु उसमें निजी अनुभव का पुट रखा और अनुभूति आख्या दी। इसी कारण वे हिन्दू, जैन, ईसाई आदि साधना-पद्धतियों में समन्वय स्थापित कर सके। मानवमात्र के लिए प्रमुखतः उनका योगदान था सर्व-मुक्ति के स्वप्न को साकार करना। इनके पहले भी महात्मा बुद्ध, प्रभुपाद जगद्बन्धु, वामाक्षेपा, मेहरबाबा आदि समष्टि-मुक्ति के लिए आकुल एवं कृतसंकल्प रहे। कविराजजी ने अपने सद्गुरु ज्ञानगंज गुरुराज्य के सिद्ध योगी परमहंस, विशुद्धानन्द जी के आदेश एवं निर्देश से यह कार्य पूरा किया और अखण्ड महायोग-धारा का सूत्रपात किया। कविराजजी के समसामयिक थे योगिराज अरविन्द, जिन्होंने इस दिशा में योग द्वारा या चन्द्रावतरण की स्थिति की कल्पना की, जिसमें सर्वदुःखनिवृत्ति का ही आदर्श था। चन्द्रावतरण होते ही काल का पर्दा अपसारित होगा और चन्द्रराज्य होगा। एक ही स्थल पर कर्मराज्य और भोगराज्य दोनों ही उपलब्ध होंगे। कविराज-जी का अखण्ड महायोग या सूर्यविज्ञान या सूर्यावतरण जीवोद्धार की क्रमिक परम्परा की अगली कड़ी है। कविराजजी परातंत्र के पारंगत शाश्वत तान्त्रिक थे।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' पर उनका विश्वास नहीं था। वह सृष्टि को भगवान् का लीलाविलास मानते थे, इसीलिए जीवमात्र के कल्याण के लिए आजीवन साधनारत रहे।

अखण्ड महायोग की पूर्ति के लिए कविराजजी ने अपने जीवनकाल में सत्रह-सत्रह मास की तीन कठोर साधनाएँ कीं। इस साधनाकाल में इस पृथ्वी के अन्न-जल से भी वंचित रहे तथा गुरुराज ज्ञानगंज के सद्गुरु परमहंस विशुद्धानन्द से सम्बद्ध रहे। इस कार्य में गुरुप्रदत्त काय से एक स्त्रीमूर्ति भी उनकी सहयोगिनी रही और महाशक्ति की कृपा पायी और समष्टि-मुक्ति का पथ प्रशस्त किया। इसका विस्तृत विवरण अखण्ड महायोग पुस्तक में मिलेगा। अखण्ड महायोग-साधना की पहली कड़ी थी कुमारी-सेवा (अथवा सेवाक्रम) जो काल एवं मध्य रात्रि से परे सम्पन्न हुई। आगम-शास्त्रों के अनुसार सप्तशती या कुमारी-तत्त्व ही परम स्थिति है, जहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति के पश्चात् भी उसका कुमारीत्व भंग नहीं होता। इसका साम्य प्राचीन कैथलिक मतानुसार कुमारी मेरी के 'निष्कलंक गर्भाधान' से किया जा सकता है। प्राचीन शिवसूत्र में इच्छाशक्तिरूपा कुमारी, अथवा कुमारी की परम इच्छा ही जगन्माता श्री श्री उमा माँ के स्वरूप में कुमारी तत्त्व हैं। कुमारी सत्ता की यह परम स्थिति काल एवं महाकाल से परे है जिसे सप्तशती कहते हैं।

गुरुकृपा से ही कविराजजी ने प्राचीन ग्रंथों में प्रतिपादित रहस्यपूर्ण कुमारी-सेवा का प्रयोग समष्टि मुक्ति के लिए किया और सफलता उपलब्ध की। यह लौकिक कल्याणार्थ अपरातंत्र में वर्णित कुमारी-पूजा जो काल जगत् की लीला है, जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। महाकालसंहिता के अनुसार भगवान् शिव को प्रसन्न करने के लिए कुमारी पूजा एवं भोज्य मुख्य कार्य है। कौल कुमारी-पूजा रात्रि में करते हैं और स्मार्त संध्या समय। पूजाकाल में कुमारी को स्नान कराकर विधिवत रंगीन एवं सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित करते हैं। कुमारी से अभिप्राय है कामवासना-रहित सुन्दर गौरवर्ण सम्भ्रान्त परिवार की सात, आठ, या नव वर्ष की कन्या जिसके माँ-बाप जीवित हों। वह बेडोल, विकलांग या वाग्दता अथवा मँगेतर न हो और उसके दाँत निकले हुए न हों। साथ ही अजातस्तना तथा रजोविहीना भी हो।

यामल में कुमारी तीन प्रकार की मानी गयी हैं, परा, अपरा, तथा परापरा। सृष्टि उन्मेष के पूर्व कुमारी की ही परम आद्या स्थिति थी जिसे आद्या शक्ति अथवा आद्या कहते हैं। सोलह वर्ष तक की कुमारियों के विभिन्न नाम वर्णित हैं। पूजा-विधान में कुमारी पाँच, सात, नव या ग्यारह अर्थात् विषम संख्या की होनी चाहिए। पूजा के कमरे के द्वार पर नाट्य-संगीत का प्रबन्ध होना चाहिए। पूजा के लिए उपलब्ध कुमारियों में सबसे सुन्दर मुख्य कुमारी होगी, किन्तु यदि अधिक न हों तो एक ही पर्याप्त है। वैसे ही काम और नैमित्तिक पूजा में केवल एक कुमारी आवश्यक है। हाँ, शरदकालीन पूजा में अधिक चाहिए। कुमारियों को एक पंक्ति में नीची आँखें करके खड़ा होना चाहिए। पूजक व्यक्ति मुख्य कुमारी को आद्या माँ का स्वरूप समझे और एक प्याले में तीर्थ लेकर प्राणायाम, भूतापसारण, गुरु एवं गणेशवंदन, अभिवादन एवं दिग्बन्धन करे। फिर पैर धोकर अपने सिर पर जल छिड़के, फिर अपने निजी वस्त्र से कुमारियों के चरण पोछे, अक्षत देकर विघ्नोत्सारण करे। तत्पश्चात् विघ्न निवारण के लिए दुबारा भूतापसारण तथा विघ्नोत्सारण करे, क्योंकि आद्या शक्ति कुमारी माँ के पूजा, गुरु गृह में प्रवेश होते ही विभिन्न देव तथा देवियाँ भी माँ के स्वरूप दर्शन के लिए आ जाती हैं और प्रायः विघ्न भी करती हैं। पुजारी अपने बायें हाथ से माँ का दायाँ हाथ पकड़ कर पहले दाया पैर आगे रख कर कुमारियों को पूजास्थल में 'मा अम्बा आगतां आद्ये जगदाधाररूपिणी' आदि वाक्य माँ की प्रसंशा में उच्चारण करते हुए मार्गदर्शन करे। अन्य कुमारियों की प्रसन्नता के लिए भी मुख्य कुमारी की पूजा पर्याप्त है। बाद में अन्य देवी की प्रसन्नता के लिए भेंट दे, फिर कुमारी न्यास करे। शरीर के विभिन्न अंगों की अधिष्ठाता ८ कुमारियों का विवरण इस प्रकार है—महाचण्ड योगेश्वरी (सिर), सिद्धकराली (मुख), सिद्ध विकराली (नेत्र), महान्तामारी (कान), वज्रकपालिनी (नथुना), मुण्डमालिनी (कपोल), अट्टहासिनी (दन्तपंक्ति), चण्डकपालिनी (कन्धे), काल चक्रेश्वरी (हृदय), गुह्यकाली (भुजाएँ), कात्यायनी (उदर), कामाख्या (मूलाधार), चामुण्डा (पीठ), सिद्धलक्ष्मी (जंघा), कुब्जिका (घुटने), मातंगी (जंघा), चण्डेश्वरी (शिर), कौमारी (सम्पूर्ण शरीर)।

सन्ध्या, सरस्वती, त्रिधामूर्ति, कालिका, सुभगा, उमा, मालिनी, कुब्जिका, कालसंकर्षा यह संज्ञाएँ एक वर्ष से नौ वर्षपर्यन्त की कुमारियों की हैं। इनमें दो देवता बटुक और गणेश क्रमशः ५ व ९ वर्ष के बालक भी शामिल किये जाते हैं। इसी प्रकार ८ भैरव, असितांगभैरव, रूरू, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, कपाली, भीषण व संहार। आठ देवियाँ भी हैं जिनके नाम हैं महामाया, कालरात्रि, सर्वमंगला, डमरुका, राजेश्वरी, सम्पत्तिप्रदा, भगवती, तथा कुमारी। देवियों की छः शक्तियाँ अनंगकुसुमा, मन्मथा, मदनातुरा आदि हैं। मुख्य कुमारी माँ के पूजन के पश्चात् शेष कुमारियाँ की पूजा करनी चाहिए। फिर उन्हें शान्तिपूर्वक भोजन करायें। भोजन के समय किसी प्रकार का वाद्ययन्त्र विघ्न न पहुँचायें, केवल महाकाल संहिता के कुमारी स्त्रोत के १६ अनुष्टुप् छन्दों द्वारा स्तुति करनी चाहिए। यह सोलह श्लोक निम्नाकित हैं—

जय कालि महाभीमे भीमरावे भवापहे।
संसारदावाग्निशिखे वृजनार्णवतारिणि॥
ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रभूतेश - प्रभृत्यमरवन्दिते।
सर्गपालनसंहार - कारिण्यहितकारिणि॥
गुह्यकालि परानन्द - रसपूरित विग्रहे।
परब्रह्मरसास्वाद - कैवल्यानन्ददायिनि॥
गुणातीतेऽपि सगुणे महाकल्पान्तनर्तकि।
कुमारीरूपमास्थाय विज्ञे प्रज्ञास्वरूपिणि॥
आगतासि ममागारं शारद्यार्चा समाप्तये।
सांवत्सरिक कल्याणसूचनाय तथैव च॥
धन्योस्मि कृतकृत्योस्मि सफलं जीवितं मम।
यस्मात् त्वमीदृशं कृत्वा कौमारं रूपमुत्तमम्॥
गुह्यकालि समायाताद्विक पूजाजिघृक्षया।
त्वामेवैतेन रूपेण देवेभ्यः प्रार्थिता पुरा॥
दत्तवत्यसि साम्राज्यं वरानपि समीहितान्।
मह्यमप्यद्य देवेशि वरदेहि सुपूजिता॥
ब्रह्मणे सृष्टि सामर्थ्यं त्वं पुरा दत्तवत्यसि।
विश्णवे च त्वमेवादास्तथा पालन शक्तिताम्॥
महारुद्राय संहार कर्तृत्वमददः शिवे।
देवेभ्यः चापि दैत्यानां नाशने दक्षतामपि॥
अन्तर्यामिन्यसीशानि त्रिलोकी वासिना मपि।
निवेदयामि किम् तेऽहं सर्बकर्मैकसाधिनि॥
शत्रुनाशं राज्य लाभं शरीरारोग्यमेव च।
त्वत् पादाम्बुजयोर्भक्ति याचेऽहं चतुरोवरान्॥

नमस्ते भगवत्यम्ब नमस्ते भक्तवत्सले।
नमस्ते जगदाधाररूपिणी त्राहि मां सदा ॥
मातर्न वेद्मि रूपं ते न शारीरं न वागुणम्।
भक्त्याहृदस्थिता पूजां तव जानाम्यमन्यधीः ॥
त्वं माता त्वं पिता बन्धुस्त्वमेव जगदीश्वरी।
त्वं गतिः शरणं त्वं च स्वर्गस्त्वं मोक्ष एव च ॥
विहाय त्वां जगन्मातर्नान्यां जानामि देवताम्।
नमस्ते स्तु नमस्ते स्तु नमस्ते स्तु नमो नमः ॥

भोजन कराने के वाद कुमारियों को विधिवत् ताम्बूल (पान) दे तथा उनका बचा हुआ अन्न शृगालों को दे अथवा पृथ्वी में गाड़ दे।

कुमारी पूजा नवरात्र के अवसर पर नव दिनों तक लगातार नवदुर्गा या हृल्लेखा, गगना, रक्ता, महाश्रया, करालिका, इच्छा, ज्ञान, क्रिया तथा दुर्गा की विधिवत् पूजा करनी चाहिए।

इस प्रसंग में निम्नांकित उल्लेखनीय कथन विचारणीय है :—

यदि सा क्षोभमायाति स्वयमेव विलासिनी।
तया सह नयेद्रात्रि वासरं वा निशेतधीः ॥
कुमारीं म स्पृशेद् एव भावं युक्तेन चेतसा।
अन्यथा मृत्युमायाति नो चेद्द देवी पराङ्मुखी ॥

पञ्चमकार साधना (परातत्त्व)

पञ्चमकार साधना तान्त्रिक वामाचार का विशिष्ट अंग है। मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—यही पञ्च तत्त्व हैं। पूजा में यथा रीति मन्त्र तथा विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा शोधन करके देवी को निवेदित करके ग्रहण करना होता है। इनमें पहला और आखिरी तत्त्व ही व्यभिचार की सृष्टि करता है क्योंकि अजितेन्द्रिय और अनधिकारी व्यक्ति आचारभ्रष्ट होकर मात्रा-ज्ञान खो बैठता है। तन्त्र में बार-बार निषेध है कि निर्विकल्प और निर्विकार न होने से कुलपथ में मद्य और मैथुन तत्त्व सेव्य नहीं है। यथा—

कुलद्रव्यं सिषेवेत यदि स्वत्वाधिका मतिः।
अन्यथा सेवने देवि! पतनायैव कल्प्यते॥
निर्विकारेण देवेशि! निर्विकल्पेन चेतसा।
सेव्यमानं कुलं भद्रे भुक्ति मुक्ति प्रदायकम्।
सविकल्पो महेशानि रौरवं याति निश्चितम्॥

—कैवल्यतन्त्र

देवि, मतिशुद्ध होने पर ही कुलद्रव्य अर्थात् मद्यादि सेवन करना चाहिए अन्यथा पतन होता है। निर्विकार और निर्विकल्प चित्त से सेवा करने पर भुक्ति और मुक्ति लाभ मिलती है। सविकल्प चित्त से अर्थात् इन्द्रियतृप्ति के लिए ग्रहण करने से नरकगामी होना पड़ता है। कलियुग का जीव दुर्बलचित्त होने के कारण नारी को शान्तिस्वरूपिणी भाव से ग्रहण नहीं कर पायेगा। इसीलिए सदाशिव ने पार्वती को उपदेश दिया है कि मैथुन की जगह अपनी इष्ट देवी के पादपद्म की चिन्तना और इष्ट मन्त्र का जप करे तथा मद्य की जगह मधुरत्रय अर्थात् दुग्ध, शर्करा और मधु मिश्रित करके इष्ट को निवेदित करे। कुलार्णव तन्त्र की सावधान वाणी है। यथा—

कृपाणधारागमनात् व्याघ्रकण्ठावलम्बनात्।
भुजङ्गधारणान्नूनमशक्यं कुलसाधनम्॥

उद्यत कृपाणश्रेणी के ऊपर से गमन वरं सहज, व्याघ्र का कण्ठालिङ्गन वरं सहज, सर्प के फन पर हस्तक्षेपण वरं सहज किन्तु कुलसाधन इन सबकी अपेक्षा भी अत्यन्त कठिन है। इसका कारण रुद्रयामल में दिखाया है। यथा—

वामे चन्द्रमुखी मुखे च मदिरा पात्रं कराम्भोरुहे,
मूर्द्धनि श्रीगुरुचिन्तनम् भगवती ध्यानास्पदं मानसं।
जिह्वायाम् जपसाधनम् परिणतिः कौलक्रमाम्यागमे,
येषां वै नियतं पिबन्तु सुरसं ते भुक्तिमुक्ति गता।

बाम भाग में सुन्दरी युवती, मुख में मदिरा, हाथ में पानपात्र, मस्तक में श्री गुरुचिन्तन, मन में भगवती का ध्यान, जिह्वा में मन्त्रजप—कौलसाधना में जिनकी ऐसी परिणति होती है, वे सुरस पान करते हैं, भोग और मोक्ष उन्हीं के करायत्त है। इस प्रकार चित्त विकार का प्रचुर कारण रहने पर भी जिनका अविचलित मन देवता के ध्यान में ही मात्र आसक्त है, वही स्थिरचित्त साधक भैरवी चक्र के अधिकारी होते हैं। अजितेन्द्रिय को अधिकार नहीं; क्योंकि कौलमार्ग चरम भूमिका—मुक्ति मार्ग का अन्तिम सोपान है। इतना होने पर भी क्या तन्त्र का दोष है ?

आनन्द ब्रह्म का रूप है। आनन्द देह में ही अवस्थित है। पञ्चमकार उसी आनन्द का अभिव्यञ्जक है। इसीलिए पंचमकार द्वारा देवी की पूजा का विधान है। शिवशक्ति सामरस्य ही आनन्द की पराकाष्ठा है। आगम में पञ्चमकार की साधना बाह्य और आन्तर दो प्रकार की है।

१. मद्यसाधना— सोमधारा क्षरेत् यातु ब्रह्मरंध्रान् वरानने।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाधकः ॥

हे पार्वती, ब्रह्मरंध्र से जो अमृतधारा क्षरित हो रही है उसका पान करने से साधक आनन्दमय हो जाता है। इसीका नाम मद्यसाधना है।

२. मांस साधना— म शब्दाद्रसना गेयो तदन्सान रसनप्रिये।
सदा यो भक्षयेत् देवी स एव मांससाधकः ॥

हे रसनप्रिये, 'म' शब्द जिह्वा, उसके अंश अर्थात् वाक्य जो पान करते हैं अर्थात् जो वाक्संयमी मौनी हैं वे ही मांस साधक हैं।

३. मत्स्यसाधना— 'गंगाजमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु सा भवेत् मत्स्य साधकः ॥

गंगा और यमुना के मध्य दो मछलियाँ चलती हैं, अर्थात् वाम नासिका स्थित नाड़ी गंगा और दक्षिण नासा स्थित नाड़ी यमुना, यह इड़ा और पिंगला नाड़ी द्वय के मध्य प्रवाहित श्वास-प्रवास वायु को मत्स्य कहते हैं। इस श्वास-प्रश्वास क्रिया को प्राणायाम के द्वारा रुद्ध करके जो मन को निश्चल करते हैं वह मत्स्यसाधक हैं।

मुद्रा साधना— 'सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिता चरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलः पारदोपमः।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते।

जो सहस्रदल कमल कर्णिकागत परमात्मा के स्वरूप से अवगत हो सकते हैं वे ही मुद्रासाधक हैं।

५. मैथुन तत्त्व— मैथुनं परमं तत्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।
मैथुनाज्जायते सिद्धिः ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ॥
रेफस्तु कुंकुमाभासं कुण्डमध्ये अवस्थितम्।
मकारश्च विन्दुरूपी महायोनौ स्थितः प्रिये ॥

अकारहंसमारुह्य एकता च यदा भवेत्।
तदा जातं महानन्दं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ॥

यह मैथुन तत्त्व सृष्टिस्थितिलय का कारण है। शास्त्र में इसे परम तत्त्व कहा गया है। इससे सिद्धिलाभ घटता है और ब्रह्मज्ञान का लाभ होता है। रकार शक्ति, कुण्डलिनी, यह देह के मध्य कुण्ड में अर्थात् मूलाधार में अवस्थित है। मकार—पुरुष परमात्मा, परम शिव—यह महायोनि अर्थात् सहस्रदल कमल कर्णिका मध्यगत त्रिकोण के मध्य है। अकार अर्थात् श्वास-प्रश्वास द्वारा सम्पादित हंस पर अजपा मन्त्र। रकार कुण्डलिनी शक्ति, अकार रूप हंस में आरोहण करके मकार रूप परम शिव सहित मिलित होने पर उनके सामरस्य से जो मैथुनानन्द अनुभूत होता है, वही ब्रह्मज्ञान साधक का प्रकृत मिथुनानन्द है। आद्य और शेष मकार साधना के सम्बन्ध में तारापीठ के महान् योगी बामा क्षेपा की युक्ति थोड़े शब्दों में व्यक्त है। पञ्चमकार क्या वीराचारी की बाह्य साधना है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि साधारण अधिकारी के लिए महानिर्वाण तन्त्र का पञ्चमकार प्रवृत्ति का पथ है तथा आगम सार का पंचमकार निवृत्ति का पथ है। सधवा नारी का पतिप्रेम और विधवा नारी का पतिप्रेम जिस प्रकार अलग है। प्रेम दो प्रकार से होता है। वाञ्छित को प्राप्त करके और वाञ्छित की चिन्ता करके। वाञ्छित को पाकर जो होता है वह प्रवृत्ति मार्ग है और चिन्ता करके जो तृप्ति होती है वह निवृत्ति मार्ग है। काल की शक्ति काली है। तन्त्र के मत से काली की साधना न करने तक मनुष्य ईश्वर उपासना का अधिकारी नहीं हो सकता है। कोई प्रत्यक्ष रूप से, कोई परोक्ष रूप से अर्थात् पवित्र भाव से यह साधना करता है।

मेरुदण्ड के दोनों ओर इड़ा और पिंगला नाम की दो तथा मध्य में सुषुम्ना नाम की एक नाड़ी है जिसके नीचे कुण्डलिनी शक्ति है। जब यह शक्ति जाग्रत् हो उठती है तब इस नाड़ी के भीतर उठने की चेष्टा करती है। जितना ही यह उठती रहती है, योगी को नानाविध अद्भुत क्षमता का प्रकाश प्राप्त होता है। योगी लोग प्राणायाम शक्ति के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जगाते हैं और तान्त्रिक गण पञ्चमकार के द्वारा उसे सहज में ही जान सकते हैं। योगिराज वामाक्षेपा देव ने इशारा किया है कि पञ्चमकार साधना योग में पूर्णारूढ़ सदाशिव तुल्य योगी ही समर्थ हैं। इस प्रकार के अधिकारी साधक कलियुग में विरल हैं।

अखण्ड महायोग की पृष्ठभूमि और भविष्यवाणियाँ

भारतवर्ष आदि काल से ही ऋषियों, आध्यात्मिकों तथा दार्शनिकों का देश रहा है, महर्षि बाल्मीकि, व्यास, वशिष्ठ, पतंञ्जलि, दत्तात्रेय, मनु, याज्ञवल्क्य आदि भारतीय संस्कृति और अध्यात्म की धरोहर हैं। इसी परम्परा में इस शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् सन्त महातन्य योगी महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज भी गणनीय हैं। उन्होंने अखण्ड महायोग की आधारशिला रखकर सर्वमुक्ति के स्वप्न को साकार करने की प्रक्रिया अपने सद्गुरु परमहंस विशुद्धानन्द जी के आदेश एवं निर्देश के अन्तर्गत पूर्ण की जिसके लिए वह आजीवन कृतसंकल्प रहे। बाबा ने ज्ञानगंज (सिद्धों के लोक) में बीस वर्ष तपोरत रहकर सूर्य-विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान आदि की साधन पूर्ण की, बाद में वाराणसी में कविराजजी के माध्यम से अखण्ड महायोग या सूर्यविज्ञान की क्रियात्मक कार्यवाही की पूर्ण दीक्षा दी, और नवमुण्डी आसन की स्थापना की जिसका रहस्य अभी प्रकाश में नहीं आया। यह सर्वदुःखनिवृत्ति के आदर्श से प्रेरित है। योगी अरविन्द भी इसी दुःख-निवृत्ति की प्रक्रिया में इसी काल में कार्यरत थे। उन्होंने चैत्य पुरुष को अवतरण की संज्ञा दी। कविराजजी ने कहा है—चन्द्रावतरण होते ही काल का पर्दा अपसारित होगा और 'चन्द्रराज्य' होगा जो योग राज्य है—एक ही स्थल पर कर्मराज्य और योगराज्य दोनों ही उपलब्ध होंगे, जीव के इसी क्रमिक उद्धार की परम्परा में सूर्यविज्ञान सफल होना—सूर्यावतरण होना। परातन्य के पारंगत कविराजजी शक्ति-तान्त्रिक थे। 'ब्रह्म सत्य, जगन्मिथ्या' पर उनका विश्वास नहीं था—वह सृष्टि को भगवान् का लीला-विलास मानते थे। इसीलिए वह जीवमात्र के कल्याण के लिए आजीवन साधनारत रहे।

अखण्ड महायोग जीवात्मा और परमात्मा के मिलन, लोक-लोकान्तरों के मिलन, अपनी तथा महाशक्ति के मिलन तथा पराशक्ति के मिलन से भी ऊपर की वस्तु है। समग्र विश्व की सर्वाङ्गीण पूर्णता प्राप्ति ही अखण्ड महायोग है। इस दिशा में प्रयत्नशील होने पर भी कुछ साधक काफी दूर तक ही पहुँच पाये हैं। किन्तु इस वैयक्तिक सम्पदा या उपलब्धियों की प्राप्ति से पूर्णत्व का बोध नहीं हो सकता। जब तक विश्व में अभाव है, दुःख है तब तक अपूर्णता विद्यमान है। पूर्ण पूर्ण ही है। एक व्यक्ति के पूर्ण होने पर केवल पूर्णता का मार्ग ही प्रशस्त होता है, खुल जाता है। पूर्णता के टुकड़े नहीं होते, वस्तुतः अखण्ड पूर्णता ही परिपूर्णता है, यही महायोग है। यही जीव जगत् का उद्धार है। एक ही अनन्त है तथा अनन्त में सर्वत्र एक ही सत्ता भासित हो रही है—जहाँ न काल है, न जरा-मृत्यु, न संकोच, न आवाज और न विदेहमयी अविद्या माया का खेल है।

अखण्ड महायोग के सैद्धान्तिक पक्ष की विवेचना करते हुए कविराजजी कहते हैं—मूलतः शक्ति एक तथा अभिन्न होने पर भी कर्म, ज्ञान एवं चैतन्य धाराओं में विभाजित है। योगी की दृष्टि में कर्मशक्ति की महिमा सबसे अधिक है। किसी भी मार्ग में बिना कर्मशक्ति के प्रयोग के उपासना में पूर्णत्व नहीं प्राप्त होता। कर्म की उपेक्षा कर ज्ञान में प्रवेश नहीं हो सकता, क्योंकि बिना कर्म के जीव के मलिन संस्कार नहीं कटते। कर्मपथ पर यथाविधि न चलने पर स्वभावसिद्ध निज ज्ञान का उदय नहीं होगा। जो ज्ञान शास्त्रों की आलोचना तथा विचारों से पैदा होता है वह शुष्क ज्ञान या वाचिक ज्ञान है। कर्मशक्ति सृष्टि के मूल में स्थित है, अतः सृष्टि के अतिक्रमण के बाद ही ज्ञानशक्ति की सहायता लेना आवश्यक है। ज्ञानशक्ति के द्वारा ही प्राण एवं चैतन्य की प्राप्ति हो सकती है, लेकिन योगी का लक्ष्य चरम लक्ष्य प्राण-सान्निध्य लाभ नहीं है, क्योंकि प्राण दर्शन मात्र से विश्व की संहारलीला समाप्त नहीं हुई। ऐसा होता तो ज्ञानीजन देह को क्यों त्याग देते। अतः ज्ञान द्वारा चैतन्य दर्शन के बाद भी देह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् ज्ञान से देह में चैतन्य का विकास नहीं होता, अतः ज्ञानी जन मृत्यु नहीं जीत पाये। देह में चैतन्य का विकास एक मात्र मन द्वारा सम्भव है। मन न जाग्रत होने से देह जाग्रत नहीं हो सकती। जिन साधन प्रणालियों में मन की उपेक्षा है उनमें देह की भी उपेक्षा हो जाती है। इसलिए जड़त्व का परिहार नहीं हो पाता, देह काल-कवलित हो जाती है। मन धराशायी हो जाता है और देह प्राण तथा मन का सम्बन्ध सदा के लिए कट जाता है। उसी की उपलब्धि से मृत्यु की आशंका समाप्त हो जाती है। अतः भाव-शक्ति तथा कर्म पूरा करना अनिवार्य है। निजस्व मन के अभाव में काल राज्य के रहने पर काल की संहार लीला से जीव नहीं बच सकता। कर्म, ज्ञान एवं भाव की त्रिविध शक्ति द्वारा मन वशीभूत होकर निजस्वरूप होगा।

इसी सिद्धान्त के आधार पर कविराज जी ने गुरु राज्य के नरदेह धारी सद्गुरु विशुद्ध सत्ता के अवतरण परमहंस विशुद्धानन्द जी की कृपा से त्रिविध शक्ति प्राप्त की और सेवा कर्म द्वारा भाव शुद्धि की। अखण्ड महायोग की यह कर्मपद्धति ५१ मास में तीन वार में सत्रह-सत्रह मास की साधाना द्वारा पूर्ण हुई। प्रथम सत्रह मास में स्थूल देह के कर्म का उत्सर्जन हुआ। श्रद्धा-विश्वास तथा सद्गुरु की कृपा के बिना सिद्धि नहीं मिलती। गुरु कृपा से स्थूल भाव समाप्त हुआ तथा सफलता मिली। मातृ सेवा कर्म (कुमारी सेवा) पूर्ण हुआ दूसरे सत्रह मास में। कठोर नियमों का पालन करते हुए ५१ लाख जप पूरा किया। जप द्वारा विश्व प्रकृति आयत्त होती है और साधक सिद्धि लाभ करता है—"जपात् सिद्धिः"। उस समय कर्मों की सारी सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। देह, मन, प्राण, चन्द्र, सूर्य, जल, मृत्यु, भूमण्डल, सृष्टि के समस्त अंग-प्रत्यंग समूल एवं सम्पूर्ण रूप से आयत्त होते हैं। तत्पश्चात् दिव्य दृष्टि लाभ होता है। इस कर्म द्वारा कर्म शक्ति पूर्ण हो गयी है अर्थात् जीवन कर्म पूर्ण हो चुका है जिससे ज्ञानशक्ति-राज्य में संचार सम्भव हो सका है। इस कर्म के

सम्पादन काल में इस संसार के अन्न, जल, वायु आदि तथा निद्रा, तृष्णा, लज्जा, अभिमान, अपमान प्रभृति वृत्तियों का सर्वप्रकार वर्जन करना होता है।

जीवन कर्म के बाद गुरु या इष्ट की उपलब्धि होती है, किन्तु गुरु शक्ति धारण करने के लिए चाहिए निर्विचार निःसंशय भाव। विचारशून्यता के बिना प्राण रूपी चैतन्य को धारण नहीं किया जा सकता। द्वितीय सत्रह मास के अनुष्ठान में सर्वदर्शी अवस्था के प्रमाण देने का काम भी पूरा हुआ। इसमें देह रूप में कौन-कौन पदार्थ स्थित हैं, देह भेद द्वारा इसका निर्णय सम्भव हुआ, यह अत्यन्त कठिन कार्य है। इस स्थिति में सूक्ष्म देह धारण; स्थूल में प्रवेश, स्थूल सूक्ष्म के भदोपभेद का ग्रहण तथा विश्वभेदाभेद शक्ति को आयत्त करना सम्भव होता है। यह दुष्कर कार्य है। बिना इसे पूरा किये ज्ञानातीत भूमि में संचार असम्भव है। इस कार्यकाल में पृथ्वी का जल, वायु तथा अन्य मानवीय सहज वृत्तियों जैसे गर्व, लज्जा, नींद, घृणा, अपमान आदि की अनुभू ति नितान्त सहज ही एक ऐसे अवधूत संत से हुई जो अपना सम्बन्ध महावतार बाबा जी और परमहंस योगानन्द जी से बताते थे। उनके पास एक छोटा सा आइना था जिसमें कोई एक व्यक्ति दस मिनट मंत्र बुदबुदाने पर जिस व्यक्ति को देखना चाहे देख सकता था, चाहे निकट हो या दूर। उन्होंने मुझे ताराखण्ड के कुछ प्रकरण भी लिखाये जो बाद में तन्त्र ग्रन्थों में देखने पर अविकल मिले।

वे अपना दायें हाथ का अँगूठा मुग्ध भाव से चूसते हुए कहा करते थे, इस अँगूठे में मुझे काल शिशुवत् सोया हुआ लगता है और विश्वास है कि महामाया की कृपा से मैं उसे एक दिन अँगूठा दिखा सकूँगा। यह थे कालावधूत श्री वादमूर्ति।

इस सम्बन्ध में विश्व के महान भविष्यवक्ता फ्रांस के मास्त्रेदाम की आगामी २० वर्षों के लिए कुछ भविष्यवाणियाँ उल्लेखनीय हैं। इनकी समस्त भविष्यवाणियों का प्रकाशन सन् १५१५ में हुआ था और तब से लेकर अब तक की उनकी ८५० भविष्यवाणियाँ अक्षरशः सही हो चुकी है। इनमें प्रमुख भविष्यवाणियाँ हैं चीन पर जो १९९९ में परमाणु युद्ध प्रारम्भ करेगा, (२) भारत, अमेरिका व रूस मित्र बनेंगे। (३) तृतीय विश्वयुद्ध सन् २००६ में समाप्त होगा और इस समय तक विश्व की दो-तिहाई मानव जाति नष्ट हो जायगी। (४) भारत हिन्दू राष्ट्र होगा तथा हिन्दुत्व का प्रसार विश्व में होगा। (५) इक्कीसवीं शताब्दी में हिन्दुओं द्वारा स्वर्ण युग का सूत्रपात होगा।

अंतरिक्ष की उर्ध्वशक्तियाँ मानव कल्याण के लिए निरन्तर कृतसंकल्प हैं जैसा कि अखण्ड महायोग, अरविन्द मिशन तथा गायत्री परिवार के आचार्य श्रीराम शर्मा की योजनाबद्ध कार्य प्रणाली से स्पष्ट है। देश की अन्य आध्यात्मिक शक्तियाँ भी गुप्त अथवा प्रकट रूप में इस कार्य में सहायता कर रही हैं। इनका उद्देश्य है कि बिना रक्तपात के ही मानव में बदलाव तथा स्वर्णयुग आ जाय, किन्तु यह असम्भव-सा प्रतीत होता है। विश्व युद्ध अवश्य होगा, उसी के बाद स्वर्ण युग की सम्भावना होगी जैसा संकेत कविराज जी की अखण्ड महायोग प्रक्रिया से भी मिलता है। परम-

हंस विशुद्धानन्द जी विशुद्धसत्ता के अवतरणस्वरूप इस धरती पर मानवकल्याण के लिए कृतसंकल्प रहे, किन्तु उनके शिष्यों ने अपना उत्तरदायित्व नहीं निभाया तथा शिशुभावापन्न हो माँ की पुकार नहीं कर सके अतः उन्हें शरीर का संकोच करना पड़ा, किन्तु उनकी प्रेरित क्रिया वातावरण में अब भी कार्यरत है जिससे उपर्युक्त भविष्यवाणियों का पूरा होना सम्भव होगा। इक्कीसवीं शताब्दी में हिन्दुओं द्वारा स्वर्णयुग का सूत्रपात होगा। इस भविष्यवाणी का संकेत हमें आज के वातावरण में भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व की धार्मिक गतिविधियों से मिलता है। प्रभुपाद स्वामी द्वारा प्रेरित कृष्ण चैतन्य सम्प्रदाय इस दिशा में एक प्रमुख भूमिका मानी जायगी। इस सम्प्रदाय के विदेशी कृष्ण भक्तों का समर्पण, शिष्टाचार, नियमानुशीलन, धार्मिक आस्था, संयम आदि भारतीय कृष्णभक्तों से कहीं अधिक है। पौराणिक युग की हिन्दू समाज की विकृतियों का परिमार्जन कर रहे हैं आचार्य श्रीराम शर्मा, गायत्री परिवार के माध्यम से विश्व में जो हिन्दू संस्कृति के जागरण की लहर फैलायी है वह एक व्यापक प्रक्रिया है। हिन्दुत्व एक सनातन धारा है जिसमें व्यष्टि नहीं, समष्टि के रूपान्तरण का चिन्तन है। योगिराज अरविन्द की भावधारा आगमतंत्र के उद्धारक परातन्त्र के शाक्त तान्त्रिक पं० गोपीनाथजी कविराज ने अखण्ड महायोग के माध्यम से विशेष गतिविधि दी है। आधुनिक जगत स्वत्त्व के संकोच के कारण दुखी है। यह स्वत्त्व धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब आदि के विभ्रम में बँट गया है। अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इन विभ्रमों के तोड़ पाने के बाद ही अखण्ड स्वत्त्व का बोधं सम्भव हो सकता है। कविराजजी ने सभी धर्मों में समन्वय की बात कही है। समन्वय और सहिष्णुता भारतीय इतिहास की विशेषता रही है। यह प्रक्रिया इधर अधिक गतिशील दिखाई दे रही है। एक ओर घोर अशान्ति, भ्रष्टाचार तथा अराजकता के बीभत्स वातावरण में भी भारतीय साधु-सन्तों की परम्परा परस्पर के स्थूल भेदों को मिटाने में निरन्तर सचेष्ट रही है। गाँधी, अरविन्द, विनोबा आदि इसी परम्परा की अलख जगाते रहे हैं। आज के भारतीय योगी तथा अनेक सन्त इस दिशा में विशेष जागरूक हैं और सम्भव है कि वह इस भविष्यवाणी को चरितार्थ करने में कृतकृत्य होंगे।

आज विज्ञान भी इस दिशा में कृतसंकल्प है। धर्म व विज्ञान के समन्वय पर प्रयत्नशील सुप्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक स्टीफेन हाकिन्स घोषित करते हैं कि विश्व शीघ्र ही ईश्वर के मन की बात समझ लेने में सक्षम होगा। ब्रह्माण्ड के एकीकृत सिद्धान्त के उद्देश्य की पूर्ति के लिए महान् वैज्ञानिक सर आइज़क न्यूटन से लेकर अलबर्ट आइन्स्टीन तक आजीवन प्रयत्न करते रहे (देखिये, टाइम्स आफ इण्डिया, दैनिक पत्र, ता० १८-६-८८)।

तत्व कथा–एक विहंगम दृष्टि

सत्य अथवा धर्म के निर्गम के लिए प्रत्यक्ष युक्ति, शास्त्र या महापुरुषों के उपदेश, इन तीनों की उपयोगिता है। प्रस्तुत पुस्तक "तत्व कथा" जिसका मूल बंगला से पहली बार इसी वर्ष हिन्दी में अनुवाद हुआ, इस कसौटी पर खरी उतरती है, कारण कि इसमें भारतीय अध्यात्म साधना की प्रारम्भ से लेकर उसकी परिसमाप्ति तक की गूढ़तम गुत्थियों को सुलझाने की प्रक्रिया है जिसका लाभ साधारण एवं उच्च-स्तरीय साधक, दोनों ही अपने आधार के अनुसार प्राप्त करेंगे। ग्रन्थ में प्रश्नकर्ता शिष्य हैं, विश्वविश्रुत मनीषी महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथजी कविराज तथा विभिन्न आध्यात्मिक शंकाओं का समाधान करनेवाले हैं उनके सद्‌गुरु योगिराजाधिराज पूज्यपाद श्री श्री विशुद्धानन्दजी परमहंसदेव। दोनों ही आजीवन भारतीय अध्यात्म के उत्कर्ष एवं सर्वमुक्ति के स्वप्न को साकार करने की दिशा में कार्यरत रहे। पुस्तक में चर्चित विषय हैं—मनुष्य की आकांक्षा, पुरुषार्थ के साधन, साधना का मूल तथा महापुरुष का आश्रय, गुरु एवं दीक्षा तत्त्व, मन्त्र और देवता, साधन, जीवन में विश्वास और विचार, स्वभावोपलब्धि के पथ में पूर्व स्मृति, स्वप्रसिद्धि, ज्ञान-विज्ञान और विभूति, आत्मसमर्पण, सन्यास एवं नित्यलीला आदि। वस्तुतः यह परिचर्चा विश्व अध्यात्म जगत को भारत की एक महान देन है।

आजकल यत्र-तत्र अवतारों व थोड़े से ही वैशिष्ट्य से तथाकथित भगवानों के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर ईश्वरत्व तथा जीव के असली स्वरूप का विश्लेषण करते हुए बाबा कहते हैं—"कितनी ही विभूति को पाकर भी जीव जीव ही रहता है, ईश्वर नहीं हो सकता। यह ब्रह्माण्ड जो देख रहे हो, इसी प्रकार के सैकड़ों ब्रह्माण्डों का पल-मात्र में ही सृष्टि और संहार की क्षमता प्राप्त करने पर भी जीव जीव ही है, ईश्वर नहीं।"

आज के कनफुकवा गुरुओं के प्रति सचेत करते हुए बाबा कहते हैं—"वास्तव में सद्‌गुरु मन्त्रदान के समय शब्दवाही ज्ञान या चैतन्य शक्ति का ही संचार करते हैं—यही देवता का स्वरूप है, चैतन्य की घनीभूत मूर्ति या देवता का आत्मप्रकाश है। मन्त्रचैतन्य न होने से केवल शब्द से ज्ञान का विकास सहज साध्य नहीं। अतः जो साधक के लिए उचित मन्त्र का चुनाव करके उसे सिद्ध या चैतन्य करके नहीं दे सकते वे गुरुपद के अधिकारी नहीं हैं।"

मन्त्र में नाम तथा वीज की महत्ता के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर बाबा कहते हैं, 'बीज ही मुख्य है, बीज मन्त्र के प्रभाव से देव-देवी से लेकर आणवीय जागतिक पदार्थों की उत्पत्ति हुई है, यह मैं एक-एक करके प्रत्यक्ष दिखा सकता हूँ। बीज

का अर्थ नहीं, ऐसा किसने कहा, ब्रह्मादि देवगण जिसके अर्थनिरूपण में असमर्थ हैं, क्षुद्र मनुष्य की क्या गति।''

साधना में प्रणव तथा बीज के सामंजस्य की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए बाबा कहते हैं, ''बीज शक्ति और प्रणव उसका वाह्य सेतु है। जैसे भूसी के बिना चावल या चावल के बिना भूसी अंकुरित नहीं होते उसी प्रकार बीज के बिना प्रणव या प्रणव के बिना बीज फल नहीं देता। केवल प्रणव निष्फल है। बीज को आलोक, जल व वायु देने पर ही वृक्ष बनता है। प्रणव का कार्य है प्रस्फुटित करना, अतः बीज आवश्यक है। वही सत्व या शक्ति है जो बीजमन्त्र का वाच्यार्थ है। यह विशुद्ध सत्वोपहित चैतन्य ही देवता तत्व है।''

बाबा ग्यारह वर्ष की अवस्था में परमहंस भृगुरामदेवजी द्वारा आकाशमार्ग से सिद्धलोक ज्ञान गंज उनके ग्राम बंडूल ग्राम [वर्दवान] से ले जाये गये थे। वहाँ बीस वर्ष तक उन्होंने सूर्यविज्ञान, नक्षत्रविज्ञान, ज्योतिष आदि की शिक्षा ग्रहणकर गुरु आदेश से मानव-मात्र के कल्याण के लिए पृथ्वी पर आजीवन कार्यरत रहे। सर्वमुक्ति के लिए वाराणसी में नवमुण्डी आसन की स्थापना की तथा कविराज-जी द्वारा अखण्ड महायोग का महान कार्य सम्पन्न कराया; इन सबका रहस्य अभी तक गुप्त है। कहते हैं कि वह क्रिया वातावरण में चल रही है और यथावसर उसका क्रियान्वयन होगा। बाबा ने अनेक योग विभूतियों का भी निदर्शन किया। जैसे—रुई से ग्रेनाइट पत्थर बनाना, पाल ब्रन्टन द्वारा मृत पक्षी को क्षण माण में जीवित कर देना आदि। इन्हीं विभूतियों के सम्बन्ध में कविराजजी जिज्ञासा करते हैं, ''बाबा, हम लोग जो हृदयकमल व नाभिकमल आदि का वर्णन पुराणों में पढ़ते हैं, वह कल्पना नहीं, प्रत्यक्ष सत्य है। आपने हमको अनुग्रहपूर्वक जिस दिन नाभिकमल को प्रत्यक्ष दिखाकर कुण्डलिनी तथा षट्चक्र के तत्त्व के सम्बन्ध में उपदेश दिया था, उसी दिन से हमारी यह धारणा दृढ़ हो गयी है। इसका दृश्य मेरे मानस पटल पर अब भी अंकित है।''

बाबा—''वत्स, तुमको मृणाल के साथ प्रस्फुटित नाभि-पद्म नाभिमार्ग से बाहर करके दिखाया था, जरूरत होने पर हृदयपद्म किसी दिन बाहर करके दिखा देंगे। नाभिकमल का रंग जिस प्रकार बाल सूर्य की तरह रक्तिम आभायुक्त है, हृदयकमल उस प्रकार का नहीं है, प्रत्यक्ष सत्य है। यह सब तर्क का विषय नहीं है। आजकल देश में कर्मी और तत्वदर्शियों का अभाव हो गया है—साधन जगत के किसी भी निगूढ़ विषय को प्रत्यक्ष दिखाकर समझा देने की किसी में भी शक्ति नहीं है।''

''वत्स, नाभि के साथ सहस्रार का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाभिक्रिया के परिपक्व न होने पर सहस्रार की प्रबल तेज राशि से अभिभूत होने की आशंका रहती है। आकाश-गमन की क्षमता नाभिक्रिया-सिद्धि का लक्षण है। कुण्डलिनी को चेतन करने के लिए नाभिचक्र में जो ब्रह्मग्रन्थि है, उसका उन्मोचन करना पड़ता है—बाद में विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि का भी उन्मोचन आवश्यक है।''

स्वभाव की उपलब्धि

मनुष्य इस रंगमंच में धन, यश, भोग आदि चाहने और पाने के द्वन्द्व को मिटाकर, उसमें समन्वय स्थापित करने के लिए कितनी ही बार कितने ही वेष ग्रहण और त्याग कर चुका है। नरक के कीट से लेकर ब्रह्म लोक के आधिपत्य तक सभी अवस्थाओं का अनुभव करने पर भी अभाव से निवृत्ति नहीं पायी, युग-युगान्तर से लोक-लोकान्तरों में साधनारत होकर भी उसे परमानन्द और परमशान्ति की उपलब्धि नहीं हुई।

वास्तव में मनुष्य जीवन का प्रकृत उद्देश्य स्वभाव की उपलब्धि है। जब तक स्वभाव में स्थिति नहीं होगी, चंचलता व अशान्ति दूर नहीं होगी। स्वभाव के आवरण व आवरण के आभास को ही बन्धन कहते हैं। माया के खेल अथवा किसी अनिर्वचनीय कारण से जीव का आवरण नहीं हटता। जड़ता में पड़े रहने से उसकी दृष्टि क्षीण हो गयी है और क्रियाशक्ति लुप्त हो गयी है। वह आत्मविस्मृत हो गया है। महामाया की कृपा से जब वह आवरण हटेगा तभी जीव स्वभाव में प्रतिष्ठित होगा। आवरण कटने के साथ ही उसकी आत्मविस्मृति जाग्रत होगी, पूर्वभाव का उदय होगा और वह अनावृत मुक्त पद में अपने को प्रकाशमान देखेगा। यही जीव का ईश्वर-सायुज्य या मिलन है और इसी स्थिति में जीव ईश्वर के साथ युक्त होने के आनन्द से उल्लसित हो उठता है। मुक्ति के पूर्व यह रसास्वादन सम्भव नहीं है। ईश्वर सदा आवरणहीन स्वभाव में स्थित हैं। मुक्तावस्था का यह आनन्द ही भक्ति व प्रेम नाम से अभिहित किया जाता है। इसीलिए बद्ध एवं अज्ञानी में जैसे ऐश्वर्य नहीं है वैसे ही प्रेम में भी उसका अधिकार नहीं है, जबतक स्वभाव जाग्रत न हो तब तक प्रकृत आनन्द नहीं मिल सकता।

जीव का जीवत्व कभी समाप्त नहीं होता, जीवत्व उसके स्वभाव के अन्तर्गत है। जीवत्व यदि आगन्तुक धर्म होता तो आवरण हटते ही उसके लोप होने की सम्भावना रहती; किन्तु ऐसा नहीं है। अतः ईश्वर भी जैसे नित्य सत्ता है, जीव भी वही है। वास्तव में जीव और ईश्वर एक ही परम तत्त्व के दो पृष्ठ मात्र हैं—एक को छोड़कर दूसरा रह ही नहीं सकता। मुक्त होने पर भी जीव जीव ही रहता है, किन्तु विशेषता उसमें यही है कि जीव में ईश्वरत्व एवं ब्रह्मभाव का साधना द्वारा विकास होता है।

जीव जड़ तथा ईश्वर

जीव और ईश्वर की शक्तियों की भाँति जड़ शक्ति के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इस जड़ शक्ति में भी ईश्वर व जीवभाव अर्थात् चैतन्य और आनन्द दोनों ही हैं। अपने में ज्ञान के विकास होने पर उसी के प्रभाव से सर्वत्र जड़ वस्तु चैतन्यमय दीखती है। जगत में अचेतन कुछ नहीं, इसी को प्राणप्रतिष्ठा कहते हैं। ज्ञान की मात्रा की अधिकता से जड़ वस्तु की सत्ता ही प्रकट हो जाती है। एक अखण्ड चैतन्य मन्त्र विराजमान रहता है। इस प्रकार भक्तिसाधना के उत्कर्ष

पर सर्वत्र ही आनन्द मिलता है। प्रह्लाद ने स्फटिक के स्तम्भ में भी हरिदर्शन किया था। और सभी कुछ मधुर हो गया था। इसीलिए प्रह्लाद के निकट क्रियाशील जड़ शक्ति भी ह्लादिनी शक्ति में बदल गयी थी। विष अमृत हो गया था।

जीव में जड़ शक्ति छिपी है, जिसकी प्रधानता से वह बद्ध पड़ा है, ईश्वर सत्ता में भी अव्यक्त भाव से जड़ शक्ति है। वास्तव में सभी भावों में सब भाव जड़ित हैं। जिस भाव की प्रधानता होती है, वही उस समय कार्य करता है। दूसरे भाव मात्र उसका अनुसरण करते हैं।

जीव कहो, शिव कहो, जड़ कहो—सभी महाशक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। सभी सत्य फिर भी मूल में यह सब कुछ भी नहीं—साम्यावस्था में सभी एकाकार होकर एक सत्ता में मिल जाते हैं। किसी का भी विनाश नहीं है। अतः जीव जब शिवत्व या ईश्वरत्व का लाभ करता है तब भी उसका जीवत्व नष्ट नहीं होता। ठीक जैसे कली में पुष्प होता है उसी प्रकार पुष्प से पुनः कली बदली जा सकती है, या घी से दुग्ध या दुग्ध से घृत निकाला जा सकता है। जगत् में सभी पदार्थ मिश्रित हैं। वे अलग किये जा सकते हैं। समुद्र में गंगाजल व सिन्धु नदी का जल ज्ञानी योगी दिखा सकता है। अतः यह प्रमाणित है कि किसी का भी आन्तरिक अभाव नहीं होता है। मुक्तिकाल में जब ईश्वरभाव का विकास होता है तब भी जीवत्व का लोप नहीं होता, किन्तु ईश्वरी शक्ति की प्रधानता से जीवशक्ति में विशेष क्रिया नहीं हो सकती—यह निश्चय है।

योगी का लक्ष्य निर्वाण नहीं

ईश्वर की सत्ता में मग्न होने पर भी जीव की अपनी सत्ता लुप्त नहीं होती तो यह प्रश्न उठता है कि इस मग्न जीव का पुनरुद्धार कैसे हो सकता है। शास्त्र में लिखा है कि प्रकृतिलय होने पर पुनरुत्थान होता है, किन्तु मोक्ष या निर्वाण होने पर पुनः उत्थान नहीं होता है। वेदान्त में मुक्तपुरुष के पुनरुत्थान को अस्वीकृत किया गया है, गीता में भी भगवान् कहते हैं—'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' अर्थात् जहाँ जाकर नहीं लौटना पड़ता वही भगवान का स्वधाम है। जैन तथा बौद्ध मतों की भी यही अवधारणा है।

निर्वाण की यह अवस्था स्वीकृत है अवश्य, किन्तु जीव अपनी सत्ता न खोने पर भी सत्ता के बोध को तो खो ही सकता है। बोध न रहने से सत्ता की स्थिति और विनाश का कोई महत्त्व नहीं। अप्रकाशित सत्ता को असत कहने पर कोई दोष नहीं। अपनी सत्ता के बोध का लोप होना ही निर्वाण है। दुर्बल जीव प्रबल शक्ति के सम्मुख होने पर अभिभूत होकर ज्ञान खो देता है, किन्तु अधिक शक्तिसम्पन्न जीव इच्छा करने पर इस अवस्था से बाहर आ सकता है। इसके पश्चात् की जो अवस्था है उसका कोई आदि-अन्त नहीं है। उस अकुल पारावार में पुनरावर्तन असम्भव है। वहाँ इच्छा नहीं, ज्ञान नहीं, भाव व अभाव कुछ नहीं। वहाँ भोक्ता-

भोग्य अथवा ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान कुछ भी नहीं है। एक अनन्त प्रकाश या अप्रकाश अनादि काल से मानो निरन्तर अपने को ही स्वयं देखता है अथवा भावातीत स्वरूप में विराजमान है। यही महाशक्ति की चरणछाया है। जीव के इस अकुल पथ में प्रविष्ट होने पर इसके पुनः बाहर होने की सम्भावना नहीं रहती है। अन्य के पक्ष में भी उसको बाहर लाने की आशा नहीं है क्योंकि कोई भी अपनी अलग सत्ता का बोध रखकर इसके मध्य प्रवेश नहीं कर सकता। शास्त्र इसी को निर्वाण कहते हैं, किन्तु प्रकृत योगी के लिए यह निर्वाण प्रार्थनीय नहीं, क्योंकि वह ज्ञान खोकर अभिभूत नहीं होना चाहता। वह माँ की गोद में आश्रय लेकर माँ की क्रीड़ा को देखना चाहता है और माँ की कृपा से खेल दिखा सकने का अधिकार भी प्राप्त करता है।

विराट् मन्त्र के साथ संघर्षलाभ करने पर भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा कैसे की जाये, क्योंकि प्रबल के संघर्ष से दुर्बल सदा ही अभिभूत होगा। इसीलिए तो शास्त्र का उपदेश है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। यही बल या शक्ति का संचय ही ब्रह्मचर्य आदि साधना का उद्देश्य है। शक्ति की आराधना के बिना शक्तिलाभ नहीं होता और शक्ति के बिना स्वबोध अक्षुण्ण नहीं रखा जा सकता। पहले उसके ही बल से बलवान हों, तब उसकी गोद में आश्रय ग्रहण करने पर उसके तेज में अभिभूत नहीं होंगे। लौहदण्ड जिस प्रकार अग्नि के आवेश से अग्निमय हो जाता है, किन्तु अग्निमय होकर भी लौहदण्ड ही रहता है, उसी तरह महाशक्ति की आराधना द्वारा द्वारा अपने को शक्तिमय करो—बाद में उसके सम्मुख रहकर भी जाग्रत रह सकोगे। भगवान के कृपाबल से बली होकर भक्त भगवान को भी पराजित कर देता है—यह बात तो पुराणों में भी पढ़ी है।

पहले शिशु बनो, मन को उसी भाँति निर्मल करो। अहंकार व कर्तृत्वाभिमान को त्यागकर सारी आकांक्षाओं को छोड़कर अन्तर के अन्तरतम स्थल में प्रवेश कर, कातर प्राणों से 'माँ-माँ' कहकर पुकारते रहो, माँ सन्तान के व्याकुल आह्वान पर अवश्य ही द्रवीभूत हो आविर्भूत होगी। सारे अभाव मिट जायेंगे। माँ की गोद में बैठकर भाव का उन्मेष होगा तथा इच्छा होते ही पूर्ण होगी। बाद में इच्छा का भी उदय नहीं होगा। सभी भाव मिलकर भावातीत अवस्था में स्थितिलाभ करेंगे। महाभाव ही माँ है एवं भावातीत ही पिता है। एक शक्ति, दूसरा शिव-स्वरूप—दोनों अभिन्न हो जाते हैं, तब सन्तान की अलग सत्ता नहीं रहती तथा शक्ति शिव और जीव तीनों एकाकार हो जाते हैं।

पुनः माँ की कृपा से सत्ताबोध प्रस्फुटित होता है—रसबोध लौट आता है। यही माँ का खेल है। इस संकोच और विकास रूप का ही मातृलीला में स्फुरण होता है। निर्वाण के पथ पर इस लीलारस का आस्वादन नहीं प्राप्त होता है। निर्वाण में व्यक्तित्व नहीं रहता, वह विराट सत्ता में अभिभूत हो जाता है। इस अवस्था में जीव स्वभाव की रक्षा नहीं कर पाता तथा आनन्द या शान्ति किसी का भी बोध

नहीं रहता। किन्तु वहाँ भी जीवभाव नष्ट नहीं होता और वहाँ जीवभाव का रहना न रहना समान है, क्योंकि वहाँ ज्ञान व क्रिया कुछ भी नहीं है। योगिगण इस अवस्था के प्रार्थी नहीं हैं। वे विशुद्ध चैतन्य रूप में स्वयंप्रकाशरूप माँ की गोद में सर्वदा जाग्रत रहना चाहते हैं और रह सकते हैं। वास्तव में योगी ही प्रकृत भक्त हैं। योगी ही कर्मी, योगी ही ज्ञानी, योगी ही भक्त एवं प्रेमी तथा योगी ही सभी भावों में अतीत है। योग की परिपक्व अवस्था को ही भक्ति कहते हैं। भक्ति में ही योग का चरम उत्कर्ष है। निर्वाण के बाद फिर बोध वापस नहीं होता। निर्वाण होता है बलहीनों का जिनका सत्त्व पैदा नहीं हुआ है। वे ही प्रबल शक्ति के प्रभाव से अपना बोध खोकर उसी के मध्य चिरकाल के लिए ही मिल जाते हैं। जो योगी हैं उनका निर्वाण नहीं होता। उन्होंने महाशक्ति के उपादान में अपने को गठित किया है अतएव कभी विनाश को प्राप्त नहीं होते।

पुरुषार्थ के साधन

इस युग में अधिकांश साधक परमानन्द मुक्तावस्था के विषय में शंका तथा संदेह रखते हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि साधना में पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही सफलता मिलती है। यह धारणा निर्मूल है। पूर्णत्वलाभ मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। माया के आवरण को हटाकर, जाग्रत होकर, जीव दीर्घकाल तक परिश्रम नहीं करना चाहता। यदि संस्कार अनुकूल हो तो तीव्र चेष्टा से कुसंस्कार कट जाते हैं, यदि पूर्वजन्म के संस्कार प्रतिकूल हों तो भी चेष्टा निष्फल नहीं जाती। सच तो यह है कि पुरुषकार का आश्रय लेना ही होगा, वरना किये हुए कर्मों का लाभ नहीं मिलेगा। भगवत्कृपा चेष्टासाध्य है। यह कृपा अहैतुकी, नित्य एवं सर्वव्यापक है, किन्तु कृपा पाने के लिए अधिकार अर्जित करना होगा। कर्म करने पर उनकी कृपा का अनुभव होगा ही। पुरुषकार एवं कृपा दोनों ही सापेक्ष हैं। पुरुषकार हीन के लिए कृपा असम्भव है, आकाशकुसुम की भाँति। मात्र भगवत्कृपा पर आश्रित निश्चेष्ट होकर बैठना साधना की उच्चतम अवस्था है। दीर्घ-काल तक संयम, श्रद्धा और घोर परिश्रम के बाद ही यह अवस्था आती है। पहले कर्म करना ही होगा। पूरी गीता में कर्म का उपदेश है, केवल अठारहवें अध्याय के अन्त में कर्मत्याग और शरणापन्न होने की बात कहीं गई है। इस स्थूल देह में रहने तक कर्मत्याग असम्भव है। सभी कर्मों से स्थूल भाव की निवृत्ति नहीं होती, इसीलिए कौशल युक्त कर्म का आश्रय लेना होता है। यही योग है।

भगवत्कृपा नित्य तथा सर्वव्यापक है। जीव देहाध्यास व स्थूल आवरण एवं अहंकारग्रस्त होने के कारण कृपा का अनुभव नहीं कर पाता। यदि यह कर पाता तो जगत् के शोक-सन्ताप से मुक्त भगवत्सान्निध्य पाकर आनन्द करता। ऐसा सम्भव भी नहीं है। कृपा सत्य है और बिना इसके आश्रय के जीव का उद्धार भी सम्भव नहीं, किन्तु अहंकारी जीव के प्रति कृपा सत्य होने पर भी निष्फल है। स्थूल आवरण के कटने के अनुसार ही कृपा का अनुभव होगा। स्थूल भाव के विनाश के साथ ही देहात्मबोध या जड़ता एवं कर्तृत्वाभिमान कटता है। अतः योगरूप कर्म ही अध्यात्म जीवन की पहली सीढ़ी है। जड़ को पकड़कर ही जड़ को छुड़ाकर चैतन्य में उपस्थित होना होगा।

कर्म को त्याग कर यदि ज्ञान-भक्ति को पकड़ना चाहो तो प्रकृत ज्ञान व भक्ति नहीं मिलेगी, मात्र उसका आभास ही मिलेगा। सर्वत्र कर्म का स्थान पहले है। ज्ञानमार्ग का श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि तथा भक्तिमार्ग की नवधा भक्ति कर्म के ही अन्तर्गत है। सद्गुरु के निर्देशानुसार क्रिया करते-करते क्रिया की परावस्था की स्फूर्ति स्वयं होती है। जब तक यह अवस्था न प्राप्त हो, कर्म करना ही

होगा। कर्मत्याग इच्छा करने पर नहीं किन्तु वह धीरे-धीरे अपने आप ही होता है। कामनात्याग के बिना कर्मसंन्यास सम्भव नहीं। स्थूल से स्थूल के संघर्ष को कर्म कहते हैं। इस संघर्ष के फलस्वरूप चैतन्य के उदय से स्थूल भाव या जड़ता कट जाती है। जिसे जड़ कहते हैं उसमें भी सर्वत्र चैतन्य रूपी अग्नि सुप्त है। लकड़ी के घर्षण से अग्नि पकड़कर आधारस्वरूप लकड़ी को जला देती है। ठीक वैसे ही स्थूलता के कटने पर कर्म स्वयं ही छूट जाता है। कर्महीन व्यक्ति का कर्मसंन्यास असम्भव है। देह कर्म का ही रूप है, 'शरीरं केवलं कर्म'। व्यवहार ही कर्मभूमि है। परमार्थ में स्थिति के समय कर्म के अतीत रहने पर भी व्यवहारदशा में कर्म कुछ-न-कुछ रहता ही है। योगी व साधारण व्यक्ति के कर्म में भेद है। कर्म स्वभाव से अलग होने से पहले अलग करने की चेष्टा करने में मिथ्याचरण आ जाता है, इससे सिद्धिलाभ में विघ्न पड़ता है। केवल शास्त्र-पाठ से उपलब्ध ज्ञान शुष्क ज्ञान होता है, जिससे अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। एक मात्र कर्म द्वारा ही अपरोक्ष ज्ञान मिलता है। इसी ज्ञान के विकास को प्रज्ञा चक्षु का उन्मीलन कहते हैं। तब अहंकार नष्ट हो जाता है। विषयों से आसक्ति छूट जाती है। सभी पदार्थों का ही स्वरूप देखने को मिलता है, किसी में आवरण नहीं रह जाता।

ज्ञानोत्तरा भक्ति

ज्ञान के बाद भक्ति का उदय होता है—एक ओर जड़ के प्रति वैराग्य दूसरी ओर परमात्मा के प्रति अनुराग। ज्ञानोदय के पूर्व की भक्ति में कुछ-न-कुछ स्वार्थ रहता ही है। ज्ञानलाभ के बाद आप्तकाम होने पर विशुद्ध भक्ति होती है, इसमें मुक्ति की भी कामना नहीं रहती। भोग, मोक्ष—दोनों कामनाएँ भी शुद्ध भक्ति के लिए रोड़ा हैं। इसीलिए बद्ध या स्थूल भाववाले जीव के लिए शुद्ध भक्ति असम्भव है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप है जिसमें वस्तु का साक्षात्कार होता है फिर वस्तु में प्राणों का आकर्षण होता है, यही भक्ति है। कर्म खोज है, ज्ञान प्राप्ति है तथा भक्ति आस्वादन है। अतः ज्ञान की परिपक्वावस्था ही भक्ति है।

भक्ति की प्रगाढ़ अवस्था को प्रेम कहते हैं जो परमानन्दस्वरूप है। यह अवस्था पूर्णत्व का द्वार—महाशक्ति या असीम तत्त्व में प्रवेश का मुख है। इसके बाद ही अकुल पथ है, जहाँ वाक्य और मन की गति नहीं है। असीम या अनन्त सत्ता तत्त्वातीत होकर भी तत्त्व रूप से वर्णित होती है। यहाँ द्वैताद्वैत कुछ भी नहीं है। वह एक तरह से ईश्वर तत्त्व से भी अतीत की अवस्था—पूर्ण महाशक्ति का स्वरूप या स्वभाव है, 'बिना प्रेम से न मिलें नन्दलाला' बिना प्रेम से इस पूर्णत्व में प्रवेश नहीं हो सकता। बाल्य काल, यौवन आदि अवस्थाएँ विभिन्न होने पर भी एक ही जीवन के अन्तर्गत हैं, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान आदि भी एक ही साधन-प्रवाह के अन्दर परस्पर सम्बद्ध हैं। यही प्रकृत समन्वय है। साधनामय जीवन रहने पर यह समन्वय स्वयं ही घटित होता है।

ज्ञान न होने से पूर्व की भक्ति जीवन के अभावों की पूर्ति के लिए प्रार्थना मात्र है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं; किन्तु शुष्क या वाचिक ज्ञान नहीं, अपरोक्ष ज्ञान, दिव्य ज्ञान। जब तक पाप-पुण्य सुख-दुःख की भावना नष्ट नहीं होती या त्रिताप की ज्वाला निवृत्त नहीं होती तब तक जीव में अहैतुकी भक्ति का उदय नहीं होता। अतः ज्ञान या भक्ति दोनों ही बिना योग के असम्भव हैं। योग यद्यपि दुरूह है, किन्तु सिद्ध योगी द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग अति सुगम है। इस स्वाभाविक सहज योग में किसी भय की आशंका नहीं है।

कर्म और सेवा का इतिहास

जिन मातृमूर्ति के द्वारा श्री गुरु ने सर्वप्रथम अपने महाकर्म का सूत्रपात किया था वे उनकी सन्तानमण्डली में सबसे अग्रणी थीं। वे सब सन्तानों में 'बड़ माँ' (बड़ी माँ) के नाम से परिचित थीं। उनके पति भी उन्हीं के समान विशुद्धानन्द की सन्तान थे। श्रीगुरु अपनी प्रिय सन्तान को अपने निकट आकर्षित कर लिया करते थे। उन्होंने बड़ी माँ को सांसारिक सम्बन्ध से मुक्त करके उनको अभिप्रेत कर्म में नियुक्त होने के लिए अवकाश दिया। साथ-साथ श्री दुर्गामाता नामक एक पंच-वर्षीया विशिष्ट ब्राह्मण कुमारी को सेवा-शक्ति रूप में ग्रहण कराया। चैतन्यमयी महाशक्ति के प्रतीक रूप थीं कुमारी-माँ; सेवाग्रहण एवं कर्म के लिए थीं बड़ी माँ तथा गुरु-काय-प्राप्त कुछ अन्य सन्तानें।

बड़ी माँ का लौकिक नाम षोडशीबाला देवी था। वह अद्वितीय कर्मनिष्ठ, श्रद्धासम्पन्न एवं गुरुवाक्य के प्रति अटल विश्वासयुक्त थीं। उनकी प्रकृतिगत योग्यता बाह्य जगत् में किसी को परिज्ञात न थी परन्तु सर्वदर्शी श्रीगुरु उससे अवि-दित नहीं थे। विशुद्धानन्द यह आशा करते थे कि इस उपयुक्त आधार को कर्म द्वारा गठित कर सकने से उनके चिर अभीप्सित विशाल कर्म का एक प्रधान अंश सुचारु रूप से निष्पन्न हो सकेगा।

(बंगला) संवत् १३४७ की कार्तिक १४ (सन् १९४० ई०) को षोडशीबाला के धर्मनिष्ठ पति रमेशचन्द्र मैत्र ने श्रीगुरु के निर्देशानुसार श्री काशीधाम में नरदेह त्याग कर नित्यधाम को प्रस्थान किया। जिस महाकर्म में बड़ी माँ को निरत होना था उसके निर्विघ्न सम्पादन एवं सफलार्थ उनका सांसारिक बन्धनों से मुक्तिलाभ करना आवश्यक था। इसीलिए श्रीगुरु ने कौशलपूर्वक अपनी प्रिय सन्तान को अपने निकट खींच लिया एवं पति-वियोग-विधुरा कन्या को नाना प्रकार के चित्तविनोद द्वारा अभिनव कर्म हेतु उत्साह प्रदान करके उसे अभावनीय (अतिमानवीय) भाव से जगा दिया। विशुद्धानन्द ने स्वयं और गुरुमण्डल के गुरुवर्ग एवं मातृवर्ग ने निरन्तर दर्शनदान एवं उपदेश प्रभृति दान के द्वारा उन्हें निर्विचार कर्मपथ पर अग्रसर होने में सहायता प्रदान की।

रमेशचन्द्र का देहत्याग साधारण जनों की मृत्यु के अनुरूप नहीं था क्योंकि उन्हें पहले ही यह सूचना मिल चुकी थी कि गुरु के महाकार्य के सम्पादनार्थ उन्हें नरदेह त्याग कर दिव्य देह धारण करनी होगी। प्राणवियोग के समय उसका निष्क्रमण एक अलौकिक भाव से हुआ था। घर के भीतर दीवार पर टँगे श्रीगुरु के चित्र के चरणों से एक सुवर्णमय तेज प्रकटित होकर उनके भ्रूमध्य से युक्त हुआ और उस स्थान से एक छोटी-सी नीलाभ गोल वस्तु को बाहर निकाल कर अपने साथ ले

गया। श्मशान यात्रा के समय और श्मशान भूमि पर भी केवल विशुद्धानन्द और ज्ञानगंज की मातृगण ही नहीं स्वयं रमेशचन्द्र भी अभिनव वेश में सज्जित होकर आविर्भूत हुए थे। इसी दिन रात में विशुद्धानन्द, ज्ञानगंज की एक मातृमूर्ति (उमा मा) और रमेशचन्द्र ने बड़ी माँ को जाग्रत अवस्था में दर्शन दिये और विशुद्धानन्द ने उन्हें धैर्य धारण करने के लिए कहा। उसके बाद वे प्रतिदिन उन्हें दर्शन देते रहे। उनके साथ ज्ञानगंज की मातृमण्डली में से कोई-न-कोई, विशेष रूप से उमा मा अथवा श्यामा मा, उपस्थित होती थीं। कभी-कभी महायोगी भृगुराम परमहंसदेव अथवा अचलानन्द (महातपा) भी आते थे। पहले रमेशचन्द्र भी अनेक दिनों तक आते रहे किन्तु बाद में वह प्रायः नहीं आते थे। यों तो अनेक आते थे किन्तु कोई नियम-बन्धन नहीं था, पर विशुद्धानन्द किसी दिन भी अनुपस्थित नहीं हुए। इसका कारण यह था कि वे बड़ी मा को नित्य दर्शन देने के लिए वचनबद्ध थे। विशुद्धानन्द, भृगुराम, अचलानन्द, उमा मा, आदि मा अथवा श्यामा मा, गुरुमण्डली के अन्यान्य जन एवं अन्यान्य मातृका शक्ति, ये सभी ज्ञान राज्य की विभूतियाँ हैं। एक ही वस्तु विभिन्न आकारों में विभिन्न प्रकृति लेकर बाह्यभेद अवलम्बनपूर्वक बड़ी मा के साथ व्यवहारार्थ आविर्भूत होते थे। वस्तुतः उनमें स्वरूपभेद नहीं था। आकृति और प्रकृतिगत भेद था किन्तु प्रयोजन हेतु कल्पित था। पाँच रात्रीय वैष्णवगण जैसे भगवान् का चतुर्व्यूह (चार दीवारी) स्वीकार करते हैं। खृष्टीय भक्तगण जैसे भगवान् की त्रिमूर्ति स्वीकारते हैं वैसे ही इन सकल मूर्तियों और तद्रूपों की परिगणना श्रीगुरु के व्यूह रूप में होती है।

बड़ी मा के लिए जब पहले पहल श्रीगुरु ने आत्मप्रकाश किया तब उन्होंने देखा कि उनका चक्षु-भरा जल मानो छलछल करता है। वस्तुतः जीवजगत् के लिए उनका करुणापूर्ण हृदय सदा ही विगलित होता है। स्वकर्म व्यतिरेक के कारण जीव को अक्षय सम्पद दान नहीं किया जा सकता। केवल खण्ड कृपा के द्वारा वह हो नहीं सकता। एतएव समग्र जीव के कल्याणार्थ उन्होंने पहले अपने आपको उत्सर्ग कर दिया है। पृथिवी पर उनके पार्थिव देह धारण करने का एक मात्र उद्देश्य यही है कि कर्महीन जीव को मनुष्यत्व प्रदान करके उसे प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित करने में सहायता दें। कारण यह है कि सकल कर्म समाप्त न कर पाने से विज्ञान का अवतरण और महायोग सम्भव नहीं होता।

डेढ़ वर्ष तक विशुद्धानन्द नित्य आकर बड़ी मा को अपने संग ले जाते और और ऊर्ध्वलोक के नाना स्थलों के दर्शन कराते थे। बड़ी मा में ऐसी शक्ति नहीं थी कि स्वतः प्रणोदित होकर देह से निर्गत हों और इच्छा अथवा प्रयोजन के अनुसार लोक-लोकान्तरों के विशिष्ट स्थानों का पर्यटन एवं दर्शन प्राप्त करें। सृष्टि अनन्त है और लोक भी अनन्त हैं। यह समस्त विचित्र दृश्य दिखलाने के लिए विशुद्धानन्द का कोई आग्रह नहीं था। केवल बड़ी मा को यथाविधि कर्म में प्रवृत्त कराना और मातृसेवा में नियुक्त रखना ही उनका उद्देश्य था। कर्म और सेवा के प्रति बड़ी मा

के भीतर श्रद्धा उत्पन्न हो सके यही उनके दृश्य-दर्शन प्रदर्शन कराने का उद्देश्य था। इसके लिए वे पहले पहल प्रायः प्रतिदिन ही बड़ी मा को लेकर ज्ञानगंज में और अन्य बड़े ऊर्ध्व लोकों में ले जाते थे। योगबल और स्वकर्म प्रभाव से यह दृश्य दर्शन करने की अधिकारिणी वे न थीं। इसीलिए स्वरूपप्रकाश करके विशुद्धानन्द को उन्हें लेकर जाना होता था।

ज्ञानगंज का विशेष परिचय देना सम्भव न होने पर भी यहाँ उसके स्वरूप और प्रकृति के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहना आवश्यक प्रतीत होता है। इन चौदह भुवनों के अन्तर्गत ज्ञानगंज कोई भी विशिष्ट लोक नहीं है। यह साधारण मायिक उपादानों से रचित स्थान नहीं है। यह विशुद्ध सत्तारूप में विशुद्धानन्द के आत्म-प्रकाश के उपरान्त धरातल पर रचित और प्रसिद्धिप्राप्त स्थान है। ज्ञानगंज वस्तुतः विशुद्ध सत्ता की मरकाया के ऊपर रचित स्थान है। इस सम्बन्ध में अन्य बातें विशुद्ध सत्ता के अवतरण के प्रसंग में संक्षेप में बतलायी गयी हैं। विशुद्ध सत्ता की भौतिक काया विन्ध्याचल पर पड़ती (पतित हुई) है। ज्ञानगंज इस काया के ऊपर प्रतिष्ठित है। विशुद्ध सत्ता की सन्तानें गुरुदत्त काया के प्रभाव से काल की सीमा भेदकर, योगनिद्रा भेदी होकर, स्वकर्म पूर्ण करने के लिए इस स्थान पर आश्रय प्राप्त करती हैं। वही ज्ञानगंज है। यह स्थान नित्य ज्योतिर्मय है। यहाँ दिन-रात का कोई भेद नहीं है। न ऊपर आकाश है और न नीचे मृत्तिका। समस्त भूमि स्वच्छ स्फटिकमय है फिर भी वहाँ वृक्ष-लता, पुष्पोद्यान, मधुकरों का गुंजन, सब ऋतुओं के फलफूल पाये जाते हैं। ज्ञानगंज के विभिन्न स्थानों का प्रदर्शन बड़ी मा को अनेक बार आनयन-पूर्वक कराना पड़ा। अचलानन्द का त्रिकोणाकार मन्दिर स्वच्छ स्फटिक द्वारा निर्मित है। इस मन्दिर के मध्यस्थल में उनका आसन विन्यस्त था और पार्श्व में मातृमण्डली के बैठने का स्थान था। ये सभी स्थान शून्य में प्रतिष्ठित थे। योगाश्रम, सिद्धाश्रम प्रभृति विभिन्न अंशों में विभिन्न प्रकार के कर्म-साधनों की व्यवस्था थी। कारागार में परलोकगत विशिष्ट आत्माओं का विचार होता और विचार के उपरान्त जिसमें जिस प्रकार की योग्यता प्रकाशित होती उसी के अनुरूप स्तर पर उसका प्रेरण किया जाता। ज्ञानगंज में कुमारी आश्रम, भैरवी आश्रम, तीर्थस्वामी और परमहंसों का आश्रम एवं यति-मुनि, संयासी, दण्डी प्रभृति के आश्रम बड़ी मा को क्षपनी दृष्टि से दर्शनीय लगे। योगमार्ग में कर्म और सेवा को प्रधान मानकर ज्ञानगंज दोनों की सुश्रृंखल व्यवस्था दिखलाई देती थी। सेवा ग्रहण करने के लिए योग्य आधार ब्रह्मवीर्य उत्पन्न कुमारी माता हैं, अन्य नहीं। सेवा के बाद प्रसाद लेने की विधि है। प्रसाद के बिना सेवाजनित सिद्धिलाभ नहीं होता। ज्ञानगंज में कुमारी माताओं के सेवार्थ विभिन्न प्रकार के विचित्र उपायों का अवलम्बन होता। त्रिकोण, चतुष्कोणादि नाना दलों के कमलों के आकारविशिष्ट के विचित्र आसनों पर कुमारी माताओं की सेवा होती। प्रत्येक दल पर एक मा विराजतीं। माताओं की वयस के अनुसार विभिन्न स्तरों के उपवेशन स्थान थे। किसी भी प्रकार का आसन क्यों न

हो, उसके मध्य बिन्दु पर विराजती थीं परम गुरुदेव की आराध्या श्री श्री आदि मा। कभी-कभी अचलानन्द स्वयं मातृसेवा करके बड़ी मा को दिखलाते कि किस प्रकार मातृसेवा होती है। विभिन्न समयों पर विशुद्धानन्द भी यहाँ का सेवा प्रदर्शन करा के बड़ी मा को नित्य सेवा करने के लिए प्रणोदित करते थे। योगमार्ग सेवा के द्वारा ही परिष्कृत होता है। योगमार्ग में जो त्रुटियाँ-विच्युतियाँ अवश्यम्भावी रूप से घटती हैं उनका संशोधन सेवा के बिना सम्भव नहीं होता। नित्य सेवा के द्वारा मा को बाँधे रखना आवश्यक है। बड़ी मा ने ज्ञानगंज के विभिन्न स्थानों के कर्मियों को कर्म करते हुए देखा। यहाँ कर्म के सिवा और किसी विषय की चर्चा नहीं होती। बड़ी मा देखतीं कि जो सन्तानें कर्मशिथिल होतीं उन्हें वेत्राघात द्वारा कर्म में नियुक्त किया जाता। बड़ी मा को ज्ञानगंज के अन्तर्गत नित्यधाम अथवा उमा मा के संसार तथा इसी प्रकार के अन्यान्य स्थानों का प्रदर्शन कराया गया। उमा मा का संसार मातृसेवा का आदर्श स्थान था।

इस प्रकार नानाप्रकार के दृश्यों में सेवा और कर्म के माहात्म्यसूचक निदर्शन बड़ी मा ने अपनी आँखों से देखकर यावज्जीवन नित्यसेवाव्रत धारण किया एवं गुरु के कर्म में प्रवृत्त हुईं। भृगुराम ने बड़ी मा को ज्ञानगंज में अवस्थित गुरुराज्य नामक एक विशाल प्रदेश दिखलाया। इससे उनके दृष्टि-पथ में नीलवर्ण कर्मनदी, रक्तवर्ण माया नदी और शुक्लवर्ण अमृत नदी अथवा अमृत सरोवर आये। नैष्ठिक ब्रह्मचारी गणों की अद्भुत साधन-प्रणाली और कठोर तपस्या ने उन्हें मुग्ध किया। इस स्थान पर प्रत्येक कर्मी को परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उच्चतर भूमि का आरोहण करना होता है। परमहंस, भैरवी, कुमारी, तीर्थस्वामी प्रभृति की परीक्षा विभिन्न प्रकार की होती है।

विशुद्धानन्द के विशेष अनुरोध से बड़ी मा ने महानिशा कर्म ग्रहण किया। महानिशा के क्षण का आयत्त न कर पाने से काल का विनाश करना सम्भव नहीं होता। विज्ञानमय जगत् करने के लिए काल का विनाश नितान्त आवश्यक है। काल की गति को रुद्ध करके ही व्यक्तिगत भाव से सामयिक उत्कर्ष हो सकता है, किन्तु उससे गुरु के महाकर्म हेतु कोई सहायता प्राप्त नहीं होती। काल को स्तंभित न करके उसका ध्वंस करना ही आवश्यक है।

नित्य सेवा ग्रहण करने के कुछ दिनों बाद ही बड़ी मा गुरु-प्रेरणा से महानिशा-कर्म ग्रहण करने के लिए राजी हुईं। (बांग्ला) संवत् १३४७ के पौष मास में उन्होंने नित्यसेवा ग्रहण की किन्तु महानिशा-कर्म उन्होंने एक वर्ष बाद ग्रहण किया। नित्यसेवा से तात्पर्य है प्रतिदिन करणीय दक्षिणा सहित कुमारी माता की सेवा करना। ब्राह्मण कुलोत्पन्न अक्षत कुमारी सेवा योग्य होती है, कारण कि उनका प्रसाद ही नित्य पाया जाता है। कुमारी माता की सेवा करके उनका प्रसाद ग्रहण करना अत्यावश्यक है। यह यावत् काल अर्थात् विशुद्धानन्द के इस जगत् में आविर्भूत होने के पहले तक। कुमारी माता का प्रसाद कोई प्रसादबोध से ग्रहण नहीं करता। इस प्रसादलंघन के

फलस्वरूप ही इतने दिनों तक महापथ रुद्ध रहा। इतने दिनों तक चिन्मयी महामाया की पूजा ठीक भाव से नहीं हुई। इसका कारण यह है कि पूजक मा का आह्वान करके विसर्जन करता है। इसके फल से शव-अवस्था आती है, प्रकृत पूजा नहीं होती। अक्षत कुमारी रूपा प्रकृति कर्मशक्ति है। इससे चैतन्य स्वभाव सिद्ध भाव से निहित रहता है। इनका प्रसाद ग्रहण करने से स्वयं अपने भीतर भी अनायास चैतन्य शक्ति का संचार होता है। इस सरल सत्य को ग्रहण न कर पाने से दारुण जगत् रहस्य में ही डूबा रहता है। निज के तेज की वृद्धि नहीं होती। वृद्धि होती है भूमि अथवा मृत्तिका के तेज की, कर्मभूमि की नहीं। इस रहस्य के उद्घाटनार्थ ही कर्म की सृष्टि होती है, मर-भूमि में वही एकमात्र सम्भवपर है। अनन्त ब्रह्माण्ड में कर्मी तो सर्वत्र हैं किन्तु कर्म नहीं। कर्म केवल देहरूपी मरभूमि में है। प्रसाद ग्रहण के अभाववश ही अणुपुंजों की सृष्टि हुई है जो स्थान प्रसाद युक्त होता है वहाँ अणु नहीं किन्तु परमाणु रहते हैं। अणु-सृष्टि होते ही काल के प्रभाव में वृद्धि होती हैं। विशुद्धानन्द ने बड़ी मा से कहा था कि ब्राह्मणकुलोत्पन्ना कुमारी महामाया का अंशस्वरूप होती है। किन्तु महानिशा के कर्मरूप जिस महाव्रत का उन्होंने बड़ी मा को व्रती बनाया था उसके लिए प्रबल शक्ति की आवश्यकता होती है। आंशिक शक्ति उसके लिए अपर्याप्त है। प्रत्येक ब्राह्मण कन्या में एक कला शक्ति प्रकट होती है किन्तु श्री दुर्गामाता नामक पंचवर्षीया कुमारी माता में पूर्णशक्ति विराजमान थी। इस महाकर्म के उद्यापन हेतु उन्हें आश्रय करके ही नित्य सेवा कार्य निर्वाह करने के लिए कहा गया था। वह एक होकर भी नाना अंशों में समष्टिरूपा थीं। इसीलिए प्रयोजनानुसार बहुसंख्यक मातृसेवा करना आवश्यक होने से एक आधार का आश्रय करके हो चला जा सकता है। वास्तविकता यह है कि परवर्ती समय में केवल सत्रह माताओं की सेवा ही नहीं अनेक (सत्तर ?) सत्रह माताओं की सेवा भी केवल एक ही आधार से सम्पन्न हो जाती है। देते समय दक्षिणा संकलित संख्या के अनुसार ही दी जाती है। भोग-रागादि विषयों में संख्याजनित किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। गुरु के आदेशानुसार महानिशा से ही दैनन्दिन मातृसेवा होती है। बड़ी मा को औत्सुक्य निवृत्ति देने के लिए ही विशुद्धानन्द ने एक दिन ज्ञानगंज ले जाकर उन्हें मातृसेवा का दर्शन कराया था। उन्होंने वहाँ अनेक मातृमूर्तियों के उपस्थित होते हुए भी मूलतः एक ही माता की सेवा से सबकी सेवा होना दर्शाया था। अचलानन्द की आराध्या श्यामा मा अथवा आदि मा ही मूल स्वरूप में वही मातृमूर्ति हैं। उन्हें माला अर्पित करने पर देखा गया कि सभी माताओं ने माला ग्रहण कर ली है। उन्हें सेवा कराते समय देखा गया कि एक ही समय में सब माताओं की सेवा हो रही है। इस प्रकार विशुद्धानन्द ने बड़ी मा को समझाया कि जो एक है वही अनन्त है और जो अनन्त है वही एक। क्रमशः उन्हें प्रणाम के सम्बन्ध में भी यही शिक्षा दी गयी। पहले वह प्रत्येक मूर्ति को अलग-अलग प्रणाम करतीं परन्तु बाद में गुरु के आदेशानुसार वे पृथक् प्रणाम न करके एक ही स्थान पर प्रणाम करती थीं। उससे ही सबको प्रणाम निवेदित हो जाता था।

कुमारी तत्त्व अति निगूढ़ है। सब शक्तियों में यह मूल शक्ति है। इन्होंने ही काल को प्रसव किया था। इनका कोई आकार नहीं। जगत् में जितने परिचित आकार हैं उनमें से एक भी आदि कुमारी का स्वरूप नहीं है। वे कुमारी रूपा महामाया के आकार हैं। इन्हीं मूल कुमारी को ही 'मा' शब्द से उच्चरित किया जाता है। नादरूपी प्रणव ज्योतिःस्वरूप है। नाद की जितनी श्रुतियाँ हैं उन्हीं का नामशब्द है दुर्गा। श्रुति (ॐकार) अक्षररूपा है, निरक्षरा नहीं। यही अक्षररूपा अखण्ड कुमारी ही दुर्गा हैं। यह शब्द शब्दातीत है। इनका स्वरूप मायातीत है। काल प्रसवित्री कुमारी सर्वमूल हैं। महामाया प्रभृति काल से ही जन्मी हैं। अचलानन्द की आराध्या आदि मा आदि कुमारी की आधारस्वरूपा हैं। स्वभावतः आदि कुमारी निराधार हैं। लौकिक कुमारी अंशरूप में महामाया की एक कला हैं। आदि कुमारी का आत्मप्रकाश इतने दिन नहीं होता। जिस दिन होगा उस दिन समागतप्राय होगा; उस दिन सकल जगत् ब्रह्ममय हो जायगा। वस्तुतः उसीके लिए महाकर्म का आयोजन होता है।

मा की सेवा करने का अधिकार लाभ तो दूर की बात है, सेवा दर्शन करने का लाभ भी कम सौभाग्य का विषय नहीं है। ज्ञानगंज में बड़ी मा ने इसी विषय का प्रत्यक्ष लाभ किया था। विशुद्धानन्द के आश्रित और उनके परिचित जिन सब लोगों ने इतिपूर्व में देहसंकोच किया है उनमें से अनेक को बड़ी मा ने ज्ञानगंज के विभिन्न स्थानों पर पाया था। कर्म के तारतम्य के अनुसार सबकी स्थिति एक प्रकार की नहीं थी और सबकी योग्यता भी एक प्रकार की न थी। ऐसे अनेक थे जो मा की सेवा का दर्शन करने आ ही नहीं सकते थे, इतनी योग्यता उनमें तब भी नहीं आयी थी। उनमें से कोई-कोई दर्शन करने आ तो सकते थे किन्तु केवल दर्शन ही पा सकते थे किन्तु सेवा के आयोजन-संक्रान्त में स्वयं किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते थे। फिर भी उनमें से कोई-कोई अवान्तर भाव से मातृसेवा में किंचित सहायता करने के अधिकारी हो गये थे। साक्षात् सेवा अति उच्च अधिकार की बात है। मातृ-सेवा का माहात्म्य इससे ही अनुमित हो जायगा।

जब देह थी तब विशुद्धानन्द ने बड़ी मा को एक माला देनी चाही थी। उससे पहले बड़ी मा ने उनसे माला के लिए प्रार्थना अवश्य की थी किन्तु विशुद्धानन्द ने कहा था कि समय आने पर दूँगा। इतने दिनों तक वह समय नहीं आया था इसीलिए प्रतिश्रुत होकर भी वे माला न दे सके। अब यह जानकर कि माला जपने का समय आ गया है उन्होंने बड़ी मा के लिए ताम्रकुण्ड के ऊपर एक गुच्छ माला रख कर उन्हें बतला दिया कि माला उठाकर यथाविधि जप करें। बड़ी मा ने उसे ग्रहण तो कर लिया किन्तु उसपर जप न किया। वह माला रुद्राक्ष के पचास दानों की थी। बड़ी मा समझती थीं कि एक सौ आठ दानों की माला पर जप किया जाता है, उससे जपसंख्या रखने में सुविधा होती है। बड़ी मा के संदेह को दूर करने के लिए दूसरे दिन विशुद्धानन्द ने उन्हें समझाया कि उनकी दी हुई माला पर पचास

११

अनुलोम और पचास विलोम जप करने से सौ जप होंगे तथा उसके बाद आठ जप और करने से एक सौ आठ की गिनती पूरी हो जायगी।

महानिशा कर्म ग्रहण करने के बाद बड़ी मा आसन पर बैठ कर जप कर सकी थीं। छठे दिन उनका अवस्थान्तर हुआ। आसन पर बैठ, आचमन करके जब वे उसे हाथ में लेतीं तब बाहर के सारे दृश्य लुप्त हो जाते, आँखें खुली रखकर भी वे कुछ नहीं देख पाती थीं। उन्हें बाहर का तनिक भी ज्ञान न रहता, दृष्टि अपलक हो जाती थी। पाँच दिन कर्मोपरान्त बड़ी मा को उनके दीक्षाकालीन मंत्र के शेष में विशुद्धानन्द उसमें कुछ जोड़ देते और यह आदेश करते कि यही मंत्र वर्द्धित आकार में जपो। उसके बाद मा ने इस परिवर्द्धित मंत्र का जप किया और उसके फलस्वरूप यह प्रकाश अवस्थान्तर फल लाभ किया। इस दिन से ही उनके बाह्यज्ञान और दर्शन का लुप्त होना आरम्भ हुआ। इसका नाम है 'आसन भूल'। यह करने पर उनके भीतर की स्वच्छ दृष्टि खुल जाती और सजग भाव बोध बना रहता। वह अपने चारों ओर एक अस्फुट आलोक का आना देख पातीं लेकिन उन्हें लगता कि उसमें किंचित अँधेरा भी रहता है। यह 'युक्त अवस्था' का नाम है। प्रतिदिन शयन अवस्था में वे विशुद्धानन्द, मातृगण अथवा ज्ञानगंज इत्यादि स्थानों के जो दर्शनलाभ करती थीं वह इसी युक्त अवस्था में होते थे। इस युक्त अवस्था की तुलना स्वप्न अथवा तंद्रा-जातीय किसी भी अवस्था से नहीं की जा सकती है।

पहले दिन बड़ी मा देख सकीं कि सामने, बहुत दूर, कुहासे के मध्य में एक अस्पष्ट मातृमूर्ति है। उन्हें लगा कि मूर्ति पद्मासनस्थ है। मूर्ति की दृष्टि से बड़ी मा को दृष्टि एक सूत्र में बँध जाती। यह दृष्टिअपलक थी। जब निर्दिष्ट संख्या का जप पूरा होता तब बड़ी मा के बाह्यज्ञान का विकास होता। पहले-पहले इसी समय यह जानने की उत्सुकता होती कि कर्म ठीक भाव से हुआ है अथवा नहीं हुआ। वह ज्ञानतः तो कुछ करती नहीं थीं, केवल आसन पर बैठ आचमन करके जप करने लगती थीं। इसके बाद जो कुछ भी संवाद होते वह उनके बाह्य मन में नहीं होते थे। कर्म समाप्ति पर जब वे लक्ष्य करके देखतीं कि माला पर उनका हाथ तो है परन्तु उँगलियाँ सुमेरु के बाद आठवें दाने पर हैं। इसीसे वे समझ पातीं कि निर्दिष्ट (शत) संख्या शेष करके फिर आठ संख्या पूर्ण करने के बाद ही वे विस्मृति अवस्था से निवृत्त हो सकी हैं। जब जपसंख्या बहुत अधिक की तब भी यही होता था।

(बांग्ला) संवत् १३४६ के फालगुन मास की पूर्णिमा तिथि से बड़ी मा ने ज्ञानगंज में अचलानन्द के मन्दिर में विशुद्धानन्द, भृगुराम, अचलानन्द और मातृगण के समक्ष महानिशा का कर्म ग्रहण किया था, अर्थात् ग्रहण करने के लिए प्रतिश्रुत हुई थीं। जीवदेह के लिए इस कर्म का सम्पादन करना अति कठिन है, फिर भी बड़ी मा ने चूंकि नित्यसेवा का नियम पहले ग्रहण कर लिया था इस कारण से उनके लिए यह असाध्य न था। उसमें जो सार वस्तु है उसे परमगुरु अचलानन्द पहले ही स्वीकार कर चुके थे। परम गुरु पहले ही यह स्वीकार कर चुके थे कि कर्म ग्रहण

करने के समय वे और उनकी आराध्या आदि मा स्वयं उपस्थित रहेंगे। बड़ी मा को यह भी पहले ही बतला दिया गया था कि इस कर्म को निष्काम भाव से ही करना होता है। यह कर्म उन्होंने पहले सत्रह (सतर) मास के लिए फिर दो बार सत्रह-सत्रह (सतर) मासों के लिए किया। उन्होंने कर्मशक्ति रूपा श्यामा मा के संग, फिर ज्ञानशक्ति रूपा उमा मा और भावशक्ति रूपा आदि मा के संग यह कर्म संपादित किया। जिस मातृशक्ति के साथ यह कर्म किया जाता है उनके साथ युक्तभाव स्थापित करके ही किया जाता है। जब तक कर्म-उद्यापन नहीं होता तब तक उन्हें (मातृ-शक्ति) छोड़ने का कोई उपाय नहीं। इसी कारण से इसे 'बंदी कर्म' कहा जाता है। बड़ी मा इस बात के लिए प्रतिश्रुत हुई थीं कि पूर्णिमा के दिन ज्ञानगंज में ही यह कर्म करेंगी, किन्तु आदेशानुसार परवर्ती शुक्लाष्टमी को अपने ही स्थान पर उन्होंने यह कर्म आरम्भ किया। यह कर्म 'मुक्त कर्म' के नाम से प्रसिद्ध है। बड़ी मा निमित्त उपलक्ष्य मात्र ही थीं। गुरु भृगुराम ने कहा था इस दिन से ही वे कर्म भार ग्रहण करेंगे और उपलक्ष्य की मरदेह का आश्रय लेकर समस्त (कर्म) निर्वाह करेंगे। उनकी काया चैतन्यमय हो चुकी थी जो इस कर्म के लिए अनुपयुक्त थी। उपयुक्त निमित्त का आश्रय लिये बिना चैतन्यमय पुरुष कर्म नहीं कर सकते। इस बात को ध्यान में रखना होगा कि यह वस्तुतः गुरुकर्म है। यह कर्म अँधेरे घर में करना होता है। कर्मकाल में घर में उजाला रखना निषिद्ध है। लेकिन कर्मकाल में अँधेरे घर में आलोक न रखने से भी कर्मप्रभाव से उजाला होता है। यह आलोक कर्मी के देह से ही निर्गत होता है। उस समय कृत्रिम आलोक की आवश्यकता नहीं होती। श्यामा माँ कर्मशक्ति हैं। कर्म काल रूप। उनके साथ कर्म करने पर नाना प्रकार की विभीषिकाओं के दर्शन होने से भीत होने की सम्भावना थी। इसीलिए बड़ी मा ने आशंका प्रकट की थी तथा श्रीगुरु से रक्षक के रूप में क्रियास्थल पर उपस्थित रहने का अनुरोध किया था। श्रीगुरु ने बड़ी मा से कहा था कि वे बड़ी मा को नित्य दर्शन देते रहेंगे किन्तु फिर भी कर्म के समय वे सशरीर उपस्थित नहीं होंगे। इसका कारण यह है कि कर्मकाल में गुरु का साक्षात्कार होने से यह कर्म निष्पादित नहीं होता है। इसलिऐ डरने का कोई कारण नहीं था; बड़ी मा किसी भी हालत में आसन त्याग न करें। आसन त्याग न करने से भय के चाहे जितने ही कारण क्यों न हों उन्हें भय नहीं व्यापेगा। कोई भी उनका वाल तक बाँका न कर पायेगा।

वन्दी कर्म लेने से पहले श्रीगुरु ने बड़ी माँ को बहुत दिनों तक कर्म की करणीयता के संवंध में नानाप्रकार के उपदेश दिये थे। कर्म की व्याख्या के प्रसंग में एक दिन उन्होंने कहा था—"मा, वन्दी कर्म को ठीक माला की तरह ही मानना। माला पूर्ण होने पर सुमेरु वाकी रहता है। सुमेरु पाकर ही तुम अपने कर्म के फल को जान पाओगी। किन्तु पूर्ण होने पर भी पूर्ण नहीं। तब पाओगी।" उन्होंने और भी समझाया था—"सूत्र मात्र एक होता है, वह मैं (गुरु) हूँ। माला के जितने मनके हैं वे सव तुम्हारे भाई-वहन हैं और सुमेरु है पूर्ण कर्म।" इस वाक्यदान के वाद

उन्होंने कहा था—"मा, सेवा श्रेष्ठ होती है। सेवा से पथ का परिष्कार होता है। योगी कृपण नहीं होता, वह दाता होता है। वह छोटी बड़ी किसी भी वस्तु का त्याग नहीं करता, उसके लिए सभी आवश्यक होते हैं। योग-मार्ग में कुछ भी त्याग नहीं किया जाता। मा, किसी को अपने से अलग न करना। सभी को मेरे समान ही प्यार करना।"

बड़ी मा ने पहले जो महानिशा कर्म ग्रहण किया था, बन्दी कर्म उसी का उत्तराङ्ग मात्र होता है। चैत्र मास की शुक्लाष्टमी से बड़ी मा ने बंदी कर्म आरम्भ किया था। महानिशा कर्म सम्पादित करके महानिशा से ही उन्हें तीन सत्रह (सतर) मास तक नित्य मातृसेवा करने का आदेश दिया गया था। बन्दी कर्म ग्रहण करने पर वह देख पायीं कि दूर, कुहासे के मध्य में अस्पष्ट भाव से योगासनस्थ मातृमूर्ति लक्षित होती है। इसके बाद ही वह अधिक स्पष्ट होने लगी। कर्म पथ पर चलते-चलते यह स्पष्टता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। चैतन्यमयी मा का रूप थी वह मूर्ति। यह आभास होता जैसे वह शून्य में विराज मालाजप निरत हैं।

इसके बाद बड़ी मा श्री गुरु की परिचित अपरिचित सभी संतानों को यह कर्म करने के लिये उत्साहित करने लगीं। श्रीगुरु ने इसी इच्छा से उन्हें आलोक प्रदान किया था। अपनी असामर्थ्य निवेदित करने पर भी उन्होंने बारम्बार उनसे यही सेवा करते रहने के लिए कहा। श्री गुरु ने बतलाया था कि उनके लिए अपनी विभिन्न संतानों के निकट आविर्भूत होकर उन्हें कर्म प्रवृत्ति के लि आदेश करना सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि उनके दर्शनों के योग्य सबका आधार समभाव पर नहीं है। एक यह कारण भी था कि यदि किसी कारण से उनके मन में अविश्वास का अंकुर उत्पन्न हो अर्थात् स्वप्नदर्शन में उनके आदेश वाक्यों की उपेक्षा कर दें तो गुरुवाक्य का उल्लंघन करने के कारण उनसे घोरतर अपराध होगा। इसीलिए बड़ी मा की आड़ लेकर उन्हें आदेशालोक देने को प्रस्तुत हुए हैं।

इसी कारण से बड़ी मा ने श्रीगुरु की कई संतानों को उनके आदेश से अवगत कराया। फलस्वरूप किसी-किसी ने सहज विश्वासपूर्वक बड़ी मा की बातों को गुरुवाक्यवत् ग्रहण किया। फिर भी सबके लिए इस भाव से ग्रहण करना संभव नहीं था। फिर भी यह सत्य है कि महानिशा के कर्म और नित्य सेवा से श्रद्धासम्पन्न किसी-किसी व्यक्ति ने उसे ग्रहण किया था। यह बात (बांग्ला) संवत् १३४९ (१९४२) के पूर्वार्द्ध की है।

इसी वर्ष के श्रावण मास की गुरुपूर्णिमा के दिन श्रीगुरु के निर्देशानुसार मैंने भी पूर्वोक्त कर्म और सेवा ग्रहण की। उनके प्रत्यक्ष आदेश और उपदेश के साथ किसी प्रकार का विरोध अथवा असामञ्जस्य न देख पाने के कारण मैं उक्त कर्म को निःसंकोच ग्रहण करने में समर्थ हुआ। श्रीगुरु की चिर आचरित प्रथा मातृसेवा है। वे स्वयं नित्य मातृसेवा करते थे। महानिशा में जो सेवा करते थे वह भी उनकी प्रकृत सेवा थी। उससे अलग लोक शिक्षा हेतु बाह्य भाव से भी वह सेवा का अनुष्ठान

करते थे। इसलिए नित्यसेवा में किसी प्रकार के विरोध की आशंका ही न थी। महानिशा का कर्म भी वही है। स्वयं श्रीगुरु भी यह कर्म नियमित भाव से करते थे। महानिशाकर्म की प्रशंसा प्रसंगतः उनके द्वारा रचित किसी-किसी संगीत में प्रकाशित हुई है। महानिशा कर्म करने के लिए मैंने वस्तुतः उनसे आदेश न पाकर उपदेश अनेक बार सुने थे। महानिशा के कर्म की वे भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। संवत् १३३५ की माघ १२ को महानिशा में किया जानेवाला एक विशिष्ट कर्म भी मुझे उन्हीं से प्राप्त हुआ था। निर्दिष्ट समय के हेतु यह कर्म पहले करना होता है। यही उनका आदेश भी था। बाद में कोई-कोई उसे स्थायी रूप से भी करने लगे। महानिशा में करणीय होने पर भी वह कर्म वर्तमान महानिशा के कर्म से भिन्न जाति का था। जो हो, कर्म और सेवा में किसी प्रकार का विरोध न देखकर मुझे बड़ी मा की बातों को श्रीगुरु के आदेशरूप में ग्रहण करने में संकोच नहीं हुआ।

यह दो कर्म यावज्जीवन अखण्ड भाव से करने का नियम है। इसे जानकर ही कर्म ग्रहण किया जाता है। मैंने भी ऐसा ही किया। महानिशा के कर्मग्रहण करने की प्रणाली के संबंध में यहाँ कुछ लिखने का प्रयोजन नहीं है। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि श्रीश्रीदुर्गामाता को आदि मा के रूप में ग्रहण करके ही यह कर्म ग्रहण करना होता है। आदि मा रूप में ही उनकी सेवा का विधान है, साधारण कुमारी रूप में नहीं। कारण कि खण्डशक्ति के साथ महानिशा के कर्म अथवा नित्य सेवा का कोई भी संबंध नहीं है। सत्रह (सतर) कला मा को पूर्ण मानकर, सत्रह माताओं की सेवा पहले दिन की जाती है।

इस कर्म के तीन मुख्य अंग हैं। प्रथम क्रिया, द्वितीय जप और तृतीय है सेवा। क्रिया से एक लक्ष्य का उन्मेष होता है और वह स्थिरता का साधन भी है। यह करते समय क्रिया-स्थान पर कृत्रिम आलोक अथवा दीपक आदि जलाने का निषेध है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है। दूसरा अंग जप की संख्या है। इसके लिये श्रीगुरु अस्थायी रूप से पहले ही निर्देश कर देते हैं, बाद में इसे उनके संकेतानुसार क्रमशः बढ़ाना होता है। उनके द्वारा निर्दिष्ट संख्या से कम या अधिक जप करने का निषेध है। "जपात् सिद्धिः"—सिद्धि अथवा पूर्णता लाभ करना ही जप का उद्देश्य होता है। साधारणतः कर्म करने से जप का लक्ष्य करना ही उद्देश्य है। आध्यात्मिक विकास के पथ में यह कर्म ही एकमात्र उपाय है। उचित परिमाण में आहार न करने से जैसे देह की पुष्टि नहीं होती वैसे ही यथाविधि कर्म न करने से गुरुदत्त काया को उत्कर्ष लाभ नहीं होता है। उक्त काया का खाद्य कर्म ही है। योग्यतावृद्धि के साथ कर्म बढ़ाने का निर्देश श्रीगुरु स्वयं कर देते हैं। धैर्यावलम्बनपूर्वक उनकी निर्दिष्ट संख्या से अपने को आबद्ध रखना ही उचित हैं। किसी प्रकार का विचार किये बिना श्रीगुरु के आदेश का पालन करना चाहिए, अर्थात् चित्त की रक्षा सरल शिशु के समान करनी चाहिए। गुरु की प्रसन्नता लाभ होने पर उनके

प्रभाव से थोड़ा कर्म भी अधिक फल प्रदान करता है। तीसरे अंग, मातृसेवा की बात भी संक्षेप में पहले ही कही जा चुकी है। अन्य समय की अपेक्षा महानिशा में की जानेवाली सेवा का माहात्म्य अधिक है। नित्य सेवा के अतिरिक्त अमावस्या, पूर्णिमा, कृष्णाष्टमी आदि तिथियों पर भी सेवा की व्यवस्था है। यह भी एक प्रकार की नित्य-सेवा ही है क्योंकि इसका आवर्तन प्रति मास होता है। इसलिए यह नैमित्तिक भी हो सकती है। पथ का परिष्कार ही सेवा का प्रयोजन होता है। मातृ सेवा के फलस्वरूप जाने या अनजाने हो जाने वाली त्रुटियों का संशोधन हो जाता है।

अतएव क्रिया द्वारा लक्ष्य स्थिर रखकर कर्म द्वारा पथ पर आगे बढ़ना होता है एवं सेवा के द्वारा प्रतिबंधक अपसारण करके पथ को परिष्कृत् रखा जाता है। महानिशा के कर्मी के लिए सेवा के समान ही नित्य दान भी एक अत्यावश्यक अति-रिक्त अंग है। यदि अधिक न हो सके तो प्रतिदिन एक पैसा-अधेला ही किसी गरीब दुःखी को दान देना चाहिए, यह आवश्यक है। एक बार में बहुत दान करने की अपेक्षा प्रति दिन अल्पदान करते रहना अधिक फलप्रद होता है।

कर्म की आलोचना पहले की जा चुकी है अब काल और क्षण की आलो-चना करना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि कर्म हेतु काल निर्दिष्ट रहना चाहिए। निर्दिष्ट काल का उल्लंघन करना कर्म के लिए घातक है। काल के अनेक विभाग होते हैं। इस स्थल पर त्रिकाल, अष्टकाल आदि काल भेदों के रहस्य आलोच्य नहीं हैं। काल के समान ही क्षण का ज्ञान भी आवश्यक है। महानिशा के क्षण अर्थात् महामहाक्षण होते ही योगी के दिवस की सूचना होती है। अतएव पूर्णता के हेतु महामहाक्षण को धारण करना एकान्त आवश्यक है। गुरु का महा कर्म क्षण धारण किये बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती। स्पष्ट भाव से क्षण का माहात्म्य इस जगत् में आज भी कहीं कीर्तित नहीं हुआ। क्षण के अपूर्व प्रभाव से श्रीगुरु ही अवगत थे। इस जगत् में एक मात्र वे ही क्षण को धारण करने में समर्थ थे। महानिशा का कर्म लौकिक दृष्टि से रात का कर्म होने पर भी योग दृष्टि से प्रातःकालीन कर्म है। सूर्यास्त-कालीन क्षण को धारण कर सकने से संध्याकालीन कर्म सिद्ध होता है। महानिशा के कर्म के साथ मा और संध्या के कर्म के साथ गुरु का सम्बन्ध होता है। कर्म महा-निशा में रचित होकर संध्या काल में गुरु के निकट अर्पित होता है। एक तीसरा समय और है, वह है कर्म ग्रहण करने का समय। यथाशक्ति क्षण धारण करके ही कर्म करना आवश्यक है। क्षण की सहायता न पाने से क्षीणजीवी मनुष्य के लिए यह महाकर्म सम्पन्न करके उत्तीर्ण हो पाना सम्भव ही नहीं है।

श्रीगुरु के निर्देशानुसार यहाँ संक्षेप में अष्टक्षणों का परिचय दिया जा रहा है—

१. महामहाक्षण	रात में ११.३० से १२ बजे तक।
२. महाक्षण	रात में १२ बजे से ३ बजे तक।
३. ब्राह्मक्षण	रात में ३ बजे से सूर्योदय तक।

४. मायाक्षण	सूर्योदय से सबेरे ८ बजे तक।
५. मोहमाया क्षण	सबेरे ८ बजे से मध्याह्न १२ बजे तक।
६. अभिशप्त क्षण	मध्याह्न १२ बजे से अपराह्न ३ बजे तक।
७. दग्धक्षण	अपराह्न ३ बजे से संध्यापूर्व तक।
८. संधिक्षण	ठीक संध्यावेला में सूर्यास्त के समय।

संध्या के बाद त्रिकाल के कार्य जानने होंगे। 'त्रिकाल' का अर्थ है—काल, अकाल और कालाकाल।

१. काल	संध्या से रात के ८ बजे तक।
२. अकाल	रात ८ बजे से रात १० बजे तक।
३. कालाकाल	रात १० बजे से रात ११ बजे तक।

इन तीनों के मिलने से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसका नाम है त्रिकाल-शक्ति। इसे आस्था कहते हैं। इसके बाद रात्रि ११.३० को आधार कहते हैं। कालाकाल की अवस्था में जब आधार उत्पन्न होता है तब क्षण आकर युक्त होता है। उससे जो आविर्भूत होता है उसका नाम महामहाक्षण है।

पूर्णता लाभ के हेतु मरदेह के लिए योगलक्ष्य स्थापन, नित्यकर्म और क्षण की अनुगति स्वीकार करना आवश्यक है। भले-बुरे का विचार न करके सरल शिशु के समान स्वयं को मुक्त रखना ही योगलक्ष्य स्थापन है। इसके लिए कर्म आवश्यक है। प्रथम अवस्था में क्षण की चिन्ता रखनी पड़ती है फिर मुक्तावस्था में चिन्ता का कोई प्रयोजन नहीं। तब क्षण ही कर्मी को खींच ले जाता है। इस अवस्था में कर्मी का योगलक्ष्य स्थापन हुआ, यह कहा जा सकता है।

मुख्य कर्म संख्याबद्ध है, यह पले कहा जा चुका है। अर्थात् निर्दिष्ट संख्यानुसार ही कर्म पूरा करना होता है। गुरु ही संख्या निर्देश कर सकते हैं। महानिशा के बाद श्रीगुरु से संख्यानिर्देश प्राप्त करके बड़ी मा दूसरे दिन अपराह्न काल में उसे कर्मी को बतलाती थीं। कर्मदान की व्यवस्था साधारणतः पूर्णिमा, अमावस्या अथवा अष्टमी के दिन होती थी। लेकिन कर्मदान के हेतु सबके लिए एक ही समय निश्चित् नहीं होता। कर्मी की योग्यता और कर्मदान के समय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कर्मदान एक रहस्य व्यापार है। कर्मदान के समय श्रीगुरु निज स्वरूप में प्रकट होते हैं, पूर्व-परिचित पार्थिव रूप का अनुकरण नहीं होता। गुरु का अप्राकृत चिदानन्दमय स्वरूप नित्य-नव-यौवन से उद्भासित है। गुरु कभी वृद्ध नहीं होते, किन्तु नित्य दर्शनदान के समय वे परिचित रूप में ही आविर्भूत होते हैं। कर्मदान के पूर्व दान योग्य कर्म अपने आप ही गुरु के निकट प्रकट होते हैं। प्रकृति के भांडार के समस्त कर्म गुरु के अधीन संचित होते हैं किन्तु वे लीन भाव में होते हैं। जो सन्तान यथाविधि कर्म करके जिस परिमाण में योग्यता लाभ करती है वह उतने ही कर्म पाने कीं अधिकारी होती है। गुरु आज्ञा का अनुसरण करके कर्म कर पाने पर आधार तैयार होता है। आधार की धारणयोग्यता के अनुसार ही नये कर्म का दान किया

जाता है। कर्मानुष्ठान भलीभाँति न होने के कारण दूसरी बार कर्म प्राप्त करने में विलम्ब होता है। अपुष्ट आधार पर तेजस्कर वस्तु डालने से आधार की क्षति होती है साथ ही वस्तु भी नष्ट हो जाती है। सन्तान को लक्ष्य करके ही गुरु के निकट कर्म प्रकट होते हैं एवं गुरु भी शिष्य को उद्देश्य करके ही उसे दान देते हैं। तब वे साक्षात्भाव से न करके मध्यस्थ सत्ता का आश्रय ग्रहण करके दान देते हैं। बड़ी मा गुरुदत्त कर्म को ग्रहण करके गाँठ में बँधे हुए धन के समान उसकी रक्षा करती हैं और यथासमय निर्दिष्ट स्थान पर अर्पण करके भारमुक्त होती हैं। कर्म के मात्रा और परिमाणगत भेद तो थे ही, अनेक समय गुणगत भेद भी रहते थे। कर्म धारण करते समय बड़ी मा इस भेद को स्पष्ट अनुभव कर पाती थीं। कोई कर्म उन्हें अपने लिए हल्का लगता था फिर भी उसे धारण करते हुए वे कष्ट अनुभव नहीं करती थीं, और कुछ ऐसे कर्म भी होते थे जिनके गुरुत्व से वे पीड़ा पाती थीं। कर्मों के गुणगत भेदवश सभी कर्म शरीर के एक ही अङ्ग में धारण करना सम्भव नहीं था। जो कर्म गुरु दान करते थे उनमें भी वैचित्र्य होता था। वास्तव में कर्म ही शक्ति है। यह प्रकृति के भीतर गुप्त भाव से संचित होती है और आधार के योग्य होने, उसमें जा पड़ने के लिए उन्मुख होतो है। इस गुरु की प्रेरणा चाहे साक्षात्भाव से हो अथवा परम्पराक्रम से वह निर्दिष्ट आधार में यथास्थान पर संचारित होती है। इसके बाद कर्षण द्वारा सन्तान कर्म का विकास सम्पादित कर सकती है। कर्षण ही आध्यात्मिक अनुशीलन अथवा अभ्यास है। खेत में पड़े बीज से जैसे बार-बार जल-सिंचन के द्वारा अंकुर फूटता है उसी प्रकार गुरुदत्त कर्म कर्षण के प्रभाव से बल प्राप्त करके आधार के सामर्थ्य में बढ़ोत्तरी करता है। इसी सामर्थ्य के ऊपर प्राप्ति अथवा फल-लाभ निर्भर करता है। प्रगाढ़ भाव से निज सत्ता सहित इस बल को मिलाने के लिए शक्ति आवश्यक है। शक्ति-संग्रह करने का श्रेष्ठ उपाय है मातृ सेवा।

अखण्ड महायोग :

आलोक और अन्धकार व मन से यह अखण्ड महायोग समझा जाता है। व्यष्टि मन का आयत्त है, जो कभी अन्धकार व कभी प्रकाश में रहता है, समस्या है समष्टि मन के आयत्त की। समष्टि प्राण भी आयत्त है। काया, जीव, व आत्मा से सम्बद्ध है मन। मात्र आशीर्वाद से जब जानकी जी एक व्यक्ति को जरा तथा काल के चंगुल से छुड़ा सकती हैं, 'अजर अमर गुण निधि सुत होऊ तो कर्म द्वारा काल पर विजय पाना कैसे असम्भव है : मेरा अभिप्राय है पूज्यचरण कविराजजी द्वारा किये गये महान् कर्म और सेवा से जो उन्होंने सर्व मुक्ति के लिए किया। मानव मात्र के लिए केवल भावपूर्ण विपन्नावस्था से माँ को पुकारना ही अवशेष है।

–योगिराज दादा सीताराम

पुण्य स्मरण :

जब जब पूज्यचरण गोपीनाथजी कविराज को पढ़ता हूँ, मन खिन्न हो जाता है। खिन्न होने के अनेक कारण हैं, उसका भास्कर रूप अन्धकार में छिपी उन सारी मूढ़ताओं को अपने वास्तविक रूप में प्रकट कर देता है और मुझे दैन्य ग्रसने लगता है। क्योंकि इतने सारे जीवन में जैसे मैं इन्हीं पशुओं से आक्रान्त रहा हूँ या कि मेरी समस्त सत्ता ईन्हीं निकृष्टताओं से एकतान हुई रही। (प्रायोगिक तन्त्र से उद्धृत)

गाविन्द शास्त्री

चौमू, जयपुर (राजस्थान)

क्षण-अवतरण :

सुप्रसिद्ध भविष्यवक्ता शीरों, पीटर्हास्कोस, जी डिक्सन, श्रीमती मलवाडी, प्रोफेसर हरार, डॉ० जूल वर्न, इटली के फादर पीटो, सोलहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी सन्त नेस्त्रदम आदि की भविष्य वाणी है कि विश्व के रूपान्तरण के लिए क्षण अवतरण होगा। कविराजजी के अखण्ड महायोग की भी यही अवधारणा है। अवतारवाद भारतीय रहस्यवाद का एक प्रधान स्तम्भ है। काल और अवकाश से परे जो सत्ता है, वह जव देश-काल के अन्तर्गत संचरण करती है, तव अवतार होता है और इसका अनुसरण कालान्तर से हो रहा है।

महाप्रलय के समय समस्त सृष्टि भंग हो जाती है। प्रकृत महाप्रलय के बाद अभिनव सृष्टि की सम्भावना नहीं रह जाती। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' यह सत्य है, किन्तु प्रलय के साथ-साथ अथवा प्रलय के पूर्व चिदानन्दमय संसार हीन और मृत्युहीन नित्य सृष्टि की सम्भावना नहीं रह जाती है। अखण्ड महायोग में जो होगा उसमें काल का सम्यक अपसारण एवं तत्पश्चात् उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति के साथ-साथ कालहीन नित्य सृष्टि का उदय होगा। दोनों में यही पार्थक्य है।

–कविराजजी ('सम्वोधि' से)

ध्यानावस्था—एक विश्लेषण

मेरे एक घनिष्ठ मित्र की अकस्मात् ही विगत पाँच छः वर्षों से केन्द्रीय सरकारी सेवा से निवृत्त होने के बाद ध्यान की स्थिति अति तीव्र हो गयी। इस समय आयु ६२ वर्ष की है। इसके पूर्व का जीवन पूर्ण भौतिक था, किन्तु अब उनकी समस्या यह है कि उन्हें भौतिक जगत् में आकर कार्य करना तो क्या आन्तरिक चेतना को बाहर लाना भी कठिन प्रतीत होता है। प्रान्त के लगभग सभी शीर्षस्थ योगियों, सन्तों तथा आध्यात्मिक व्यक्तियों से परामर्श किया। सभी ने उनकी इस बोधमयस्थिति की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहने की भूरि-भूरि प्रशंसा की। सुप्रसिद्ध योगी पायलट बाबा से प्रश्न करने पर उन्होंने कहा कि इस प्रकार की स्थिति के लिए तो बड़े-बड़े ऋषि व मुनि भी तरसते हैं किन्तु यह भाव-सम्मोहन की स्थिति है। पूर्वजन्म की साधना के संस्कार पुन्जीभूत होकर अकस्मात् ध्यान की उत्कृष्ट प्रगाढ़ावस्था में सम्मोहन भाव के रूप में उत्पन्न हो गये हैं। अब इस अवस्था में मात्र संकल्प का अभाव है। यदि इस स्थिति का लाभ उठाना हो तो इन्हें एकान्त वास करना चाहिए। वृत्ति को पूर्ण रूप से एकाग्र कर संकल्प देने पर साक्षात्कार हो सकता है अन्यथा पुनः भौतिक जगत् के कार्यकलाप में लिप्त होना अवश्यम्भावी है। एकान्त वास की सलाह तो सभी ने इन्हें दी है। कुछ का कहना है कि यह स्थिति विक्षिप्तावस्था की सूचक है। कुछ योगियों की दृष्टि में आप अवधूतावस्था या औघड़पन की ओर अग्रसर होते दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में ध्यान की यह चरम उत्कृष्ट अवस्था है जिसमें साधक आकाश के व्यापकत्व में आत्मा की गतिशीलता का पूर्ण अनुभव करता है और तीनों अवस्थाओं में बोधमय स्थिति में आनन्द लाभ करता है। अब किसी प्रकार की चिन्ता, सुख या दुःख का विकास मन को सशंकित नहीं करता और न किसी प्रकार की इच्छा ही अवशेष रह गयी है। आपकी इस आकस्मिक उपलब्धि से प्रसन्न होकर कविराजजी के मानस पुत्र योगिराज दादा सीतारामजी ने तो ज्ञानगंज तिब्बत की सुषुम्ना की आधुनिकतम आत्मक्रिया—तान्त्रिक ध्यान योग की प्रक्रिया—को देने के लिए भी इन्हें उपयुक्त पात्र समझा, जिसको पाकर इन्हें मानवता के कल्याण की क्षमता प्राप्त हो जाती और वे जिज्ञासुओं में शक्ति संचार करने में समर्थ हो जाते। किन्तु इच्छा के अभाव में क्रिया कैसे सम्पन्न कर पायेंगे। इसी कारण यह प्रस्ताव भी कार्यान्वित न हो पाया। मेरे मित्र की इस आकस्मिक संस्कार-सम्मोहन की स्थिति पर कविराज का क्या कहना है, यह वस्तुस्थिति पर पूर्ण प्रकाश डालता है। कविराजजी का पूरा साहित्य मात्र उनके आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि उनकी पुस्तकें विशेषकर 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' 'अखण्ड महायोग', 'श्रीकृष्ण प्रसंग', 'भारतीय संस्कृति और साधना' आदि साधारण

पाठक को दुरूह लगती हैं। वे ही व्यक्ति इनको भलीभाँति समझ सकते हैं जो जीवन काल में उनके सम्पर्क में रहे हों या जिन्होंने इस ध्यान प्रक्रिया को ग्रहण किया हो। कविराज जी के ही शब्दों में, 'विषय राज्य के प्रति जब पूर्ण वैराग्य आता है, संसार की कोई भी चीज जब अच्छी नहीं लगती, जब इन्द्रिय गोचर अथवा मन-बुद्धि गोचर सारे पदार्थ ही रसहीन लगने लगते हैं परन्तु सत्य धाम का पता भी नहीं मिला होता है, तभी समझना चाहिए कि जीव प्रान्तर में है। यह एक मरु-भूमि विशेष है— अन्धकारमय, संगहीन, आश्रयवर्जित स्थान या अवस्था है। विपुल प्रान्तर भेद करके गये बिना उस आनन्दधाम को पाने का उपाय नहीं। यह प्रान्तर विषय राज्य और भगवत-धाम के बीच अवस्थित है। श्री हरि की आराधना का यही प्रशस्त स्थान और काल है। इस आराधना के फलस्वरूप उनके श्रीचरण में आश्रय मिलता है। जो आराधना संसार में रहकर होती है, वह ठीक नहीं, क्योंकि उसमें मन बहुत कुछ संसार में लगा रहता है। अतः प्रान्तर की प्रार्थना ही सही है अर्थात् वैराग्य के बिना आराधना सफल नहीं हो सकती। कविराजजी ने माँ की पुकार का आह्वान मानवता के कल्याण के लिए, अखण्ड महायोग या सूर्यविज्ञान के अवतरण के लिए किया है, विशेषकर साधना की उसी स्थिति में पहुँचकर शीघ्र फलप्रद होगा। मनुष्यत्व प्राप्त करने के पश्चात् शिशुभावापन्न हो मात्र "माँ" को पुकारना ही अवशेष रह गया है। पृथ्वी के जीवों द्वारा अवतरण का लक्ष्य करने के लिए एवं मनुष्यत्व प्राप्त कर महाविज्ञान मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अभी से "माँ" उच्चारण करना आवश्यक है। अब समय नहीं रहा, विश्वव्यापी संहार निकट है। अब कर्म पूरा हो चुका है, अतः काल स्थित नहीं रह सकेगा। एक मात्र शिशु ही इस विश्वव्यापी संहार को रोकने में समर्थ है। जो "माँ" उच्चारण कर सकेगा वही शिशु है। "माँ" के पुकारनेवाले सभी मृत्यु से परित्राण पायेंगे। उन्हें अमरत्व की प्राप्ति होगी। प्रलय से देह की रक्षा का एक मात्र उपाय है—माँ को पुकारना। "माँ" ध्वनि से माँ के साथ योग स्थापना होगी एवं काल का अवसान होगा।

मेरे लेख "अवधारणा समष्टि-मुक्ति की—अखण्ड महायोग" के अन्तर्गत प्रयोग किये गये शब्दों 'शतभेद क्रिया' एवं 'कृपा शून्य कर्म' के सम्बन्ध में कई विशिष्ट जिज्ञासुओं ने स्पष्टीकरण माँगा है। साथ ही अखण्ड महायोग एवं आत्मक्रिया योग का विश्लेषण भी चाहते हैं। पहले तो मैं इन जिज्ञासुओं को हार्दिक बधाई देना चाहता हूँ कि उन्होंने इतनी गम्भीरता व लगन से लेख का अध्ययन किया और अभिरुचि ली। वास्तव में अखण्ड महायोग एक सुखद एवं सुन्दर कल्पना है। कल्पना तभी तक है जब तक इसका पूर्ण रूप से अवतरण न हो जाये और पूरी मानवता का रूपान्तरण न हो जाये। यह बड़ा दुरूह एवं गुप्त विषय भी है, क्योंकि यह प्रक्रिया साक्षात्कार के बाद की है। अपने सद्गुरु परमहंस विशुद्धानन्द के निर्देश से उन्होंने सत्रह-सत्रह मास की तीन कठोर साधनाएँ कीं, उसे स्वयं एक स्त्री-मूर्ति के साथ पूर्ण किया जब इस पृथ्वी का अन्नजल तक भी नहीं ग्रहण किया। इसका सैद्धान्तिक

रूप कविराजजी की पुस्तक 'अखण्ड महायोग' में मिलेगा जिसका प्रकाशन बंगला में पहले सन् १९५६ में हुआ था। बाद में इसका अनुवाद हिन्दी में सन् १९७९ में हुआ। उसमें एक अध्याय 'कर्म एवं सेवा' जिसमें प्रक्रिया की चर्चा है, इस पुस्तक के परिशिष्ट में प्रकाशित किया गया। यह प्रक्रिया इतनी गुप्त रखी गयी है कि कोई अन्य व्यक्ति इस सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। अरविन्द के योग में तन्त्र का समन्वय करके कविराजजी ने सर्वमुक्ति के स्वप्न को साकार किया है। यह उत्कण्ठा एवं प्रतीक्षा इतनी प्रबल है कि इसकी चर्चा मानवता के लिए बड़ी प्रेरक होगी। जब कविराजजी से प्रश्न किया गया कि कब तक अवतरण होने की सम्भावना है तो उन्होंने यही उत्तर दिया कि समय भी निर्दिष्ट किया जा सकता है, किन्तु जो प्रक्रिया इस दिशा में चलायी है उस पर व्यवधान भी हो सकता है, अतः इसकी घोषणा मानव समाज के हित में न होगी। वैसे कुछ भविष्य द्रष्टा तथा योगी केवल पच्चीस-तीस वर्ष का ही समय आँक रहे हैं यद्यपि इसके अन्तराल में नरसंहार एवं विनाश की भी सम्भावनाएँ हैं।

यद्यपि यह बड़ा ही कठिन विषय है फिर भी अखण्ड महायोग के विभिन्न पहलुओं पर तीन-चार लेखों में विचार करने की कोशिश किया है, जिनका प्रकाशन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में हुआ है। आत्मक्रिया योग एक तान्त्रिक ध्यान प्रणाली है, जिसका सम्बन्ध तिब्बत एवं ज्ञानगंज के सिद्ध योगियों से है। परमहंस विशुद्धानन्दजी ने इसे कविराजजी को दिया, किन्तु कविराजजी ने इसको योगियों, साधकों एवं सन्तों के साक्षात्कार से इस प्रक्रिया को अधिक सशक्त किया। वास्तव में यह आध्यात्मिक जगत के बीसवीं शती की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। शक्ति संचार की यह सरल सहज निरपेक्ष तान्त्रिक ध्यानप्रणाली अतिशय कारगर सिद्ध हुई है, जो कि विश्व की लगभग सभी सुषुम्ना की साधनाओं का क्रमिक विकास है। इसकी विशद चर्चा अन्यत्र की जायेगी।

अखण्ड महायोग के कार्यान्वयन में "कृपा शून्य कर्म" तथा "शतभेदी क्रिया" की चर्चा आयी है। इन दोनों का सम्बन्ध अखण्ड महायोग की प्रक्रिया से है। कृपा शून्य कर्म समझने के लिए पहले कृपा एवं कर्म को समझना होगा। कृपा दो प्रकार की है। "खण्डकृपा" एवं "महाकृपा।" प्राथमिक अवस्था में कृपा के अलावा जीव का कार्य नहीं चल सकता। मातृ कृपा के बिना शिशु कैसे समर्थ होगा : इसी प्रकार जीव भी जगदम्बा की कृपा के अतिरिक्त दुःखमय स्थान से अलग होकर दुःखातीत शुद्ध स्थान में कैसे पहुँचेगा : इसीलिए खण्डकृपा भी आवश्यक है, किन्तु इस खण्डकृपा से कृपाभाजन पूर्णतः लाभान्वित नहीं हो सकता। अन्य की शक्ति द्वारा प्राप्त कोई भी अवस्था स्थायी नहीं होती। खण्ड कृपा कितनी ही सशक्त एवं आनन्दमयी क्यों न हो, महाप्रलय काल में उसका किञ्चित भी अस्तित्व नहीं रह जाता; यहाँ तक कि ऐसा कृपापात्र व्यक्ति आत्मशक्ति विकास के हेतु, भूत कर्म से विरत होकर आत्म परिचय से भी चिरवंचित रह जाता है। कृपा की आवश्यकता है, आत्मशक्ति को विकसित कर शक्ति विकास के सुयोग्य स्थान की प्राप्ति के लिए। इस कृपा के

प्रयोजन के बाद कर्म का प्रयोजन है। इसी कर्म के आधार पर व्यक्ति परमात्मा का तादात्म्य ला पाता है, यहाँ तक कि योगी स्वयं उस स्थान पर स्थानापन्न होकर सामर्थ्य अर्जित करता है। यहाँ तक कृपा की सीमा है। यहाँ तक का कर्म, कर्म होने पर भी कृपा मूलक कर्म है। इसके पश्चात् का कर्म है, जिसे कृपाशून्य कर्म कहा जा सकता है, तब कृपा नहीं रह जाती अर्थात् यहाँ कृपा गुप्त रूप से रहती है। यही कृपा शून्य कर्म है। कृपा शून्य कर्म के अलावाब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो सकता। "प्रत्यक्ष ब्रह्म ज्ञान" से जो कुछ ध्वनित होता है, उसे मरदेहावस्थान स्थिति में प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कृपा कर्म पूर्ण करने के बाद कृपा शून्य कर्म की भी पूर्णता प्राप्त हो। उस समय जिस ज्ञान का आविर्भाव होगा, उससे इस लोक एवं परलोक का भेद समाप्त हो जायेगा। महामाया और ब्रह्म का भेद तिरोहित होगा, इष्ट और गुरु के व्यवधान चिरकाल के लिए समाप्त हो जायेंगे।

शतभेदी कर्म के सम्बन्ध में कविराजजी का कहना है कि इसे किसी ने भी नहीं किया है। जो मुक्त हो जाता है, वह भी शत में है। शतभेदी बिना किये एक तो होगा नहीं। श्रेष्ठ योगी, महाज्ञानी सिद्ध पुरुष असंख्यों की संख्या में हो गये हैं, यह सभी शतभेदी के ही अन्तर्गत हैं। "शतभेदी क्रिया" के पश्चात् शिव शक्ति सामरस्य (समरस) बन जाता है, इसका अर्थ है कि यह जीव की सर्वोच्य सिद्धि है। इसी को अखण्ड महायोग कहते हैं। अखण्ड महायोग किसी का होता है और किसी का नहीं होता है—ऐसा नहीं होता। अखण्ड चीज सबको लेकर होगीं।

मुझे प्राप्त हुआ, मुझे माने सब को। मैं समस्त मानवता का प्रतिनिधित्व करता हूँ। इस अखण्ड महायोग का जो कृपा शून्य कर्म है, वह समाप्त हो गया। कृपा शून्य कर्म की समाप्ति के बाद गुरु स्वयं आकर आलिंगन करते हैं। इस समय गुरु शिष्य को आलिंगन में बाँध लेते हैं, और पूर्णता आ जाती है। गुरु शिष्य से कहते हैं कि अब तुम पूर्ण हो अर्थात् भगवान् भक्त को सिर पर बैठा लेते हैं। अनन्त शक्ति का विकास हो गया—शिवशक्ति का सामरस्य हुआ। भविष्य में जगत् में जो परिवर्तन होंगे—यही वह है। अरविन्द ने भी यही कहा है, पर उनकी परिभाषा दूसरे ढंग की है। कृपा शून्य कर्म में कृपा नहीं रहती। कृपा रहने पर यहाँ नहीं जा सकते। कृपा शून्य और कृपा में काफी कमी है। जब मनुष्य तैरता है या तैराकी प्रतियोगिता होती है तब उसके साथ-साथ एक नाव चलती है। तैर न पाने पर नाव पर चढ़ा लेते हैं। इस प्रकार आत्म रक्षा तो हो जाती है किन्तु पूर्णता नहीं आयी। यह भी उसी प्रकार का कृपा शून्य कर्म है। कृपा-शून्य कर्म का अर्थ है अखण्डता को प्राप्त करने के लिए अपने ऊपर निर्भर रहना। तभी महाकृपा आयेगी। खण्ड कृपा से जगत में परिवर्तन नहीं हो सकता। अखण्ड महायोग के कार्यान्वयन की कविराजजी की यही आधारशिला है जिसकी पूर्ति हो गयी है। समष्टि की कार्य साधना हो चुकी है, व्यष्टि के आधार पर मात्र 'माँ' को पुकारना है और जनमानस में इसकी प्रेरणा देनी है। ●

चिन्तन के क्षणों में

[निम्नलिखित चार्ट साधकों, जिज्ञासुओं एवं प्रबुद्ध पाठकों के लिए विशेष रूप से तैयार किया गया है। साधना के पथ में कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन्हें समझने में कठिनाई होती है। आध्यात्मिक समस्याएँ दुरूह होती हैं फलतः उनका समाधान भी सहज और सरल ढंग से नहीं हो पाता। इस चार्ट का सूक्ष्म ढंग से अवलोकन करने पर अनेक आध्यात्मिक शंकाओं के समाधान में सहायता मिलेगी।]

चार्ट : पंच ज्ञानेन्द्रियाँ (आकाशादि पंचभूतों के सात्त्विक अंश से)

कर्ण	चक्षु	नासिका	जिह्वा	त्वचा
शब्द	तेज	घ्राण	रस	स्पर्श
आकाश	अग्नि	पृथ्वी	जल	वायु

सात्विक अंश से उत्पन्न

बुद्धि	मन
निश्चयात्मक अन्तःकरण वृत्ति	संशयात्मक अन्तःकरण वृत्ति
चित्त	अहंकार
अनुसन्धानात्मक (खोजी)	अभिमानी

पंच कर्मेन्द्रियाँ (तामस अंश से उत्पन्न)

वाणी	हस्त	पाद	पायु	उपस्थ
आकाश के,	वायु	तेज	जल	पृथ्वी
रज अंश से	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध (गुण)
शब्द (सृष्टि की उत्पत्ति)	अनाहत (यं)	मणिपुर (रं)	स्वाधिष्ठान (वं)	मूलाधार (लं) चक्र एवं बीजाक्षर
सहस्रार				

साधना के क्षणों में विश्राम विधि

यदि काम करते समय थकान का अनुभव हो तो विषय बदल दीजिये। शतपथ ब्राह्मण में विश्राम की एक रीति लिखी है। मुँह वन्द कर लीजिए। नीचे ऊपर की दाँतों की पंक्तियाँ न मिलें। जिह्वाग्र को ऊपर उठा लीजिए।

वस इतना ध्यान रहे कि जिह्वाग्र ऊपर तालु और नीचे अपने आधार का स्पर्श न करे। यदि जिह्वा पाँच मिनट इस अवस्था में रखी जा सके तो कई घण्टों का श्रम स्वतः दूर हो जायेगा। इसका विज्ञान यह है कि शब्द से ही भिन्न भावों का उदय होता है। तालु उत्तरारणि है, आधार देश अधरारणि है। जिह्वामन्थन काष्ठ है, इससे वाम अग्नि उत्पन्न होती है। जिह्वा स्थिर होने पर शब्द और भाव की उत्पत्ति बन्द हो जाती है। मन जिह्वाग्र में स्थित हो जाता है और सारी थकान दूर हो जाती है।

सुषुम्ना एवं नासाग्र : आत्म क्रिया ध्यानयोग की पृष्ठभूमि। मुख्य प्राण— स्वास के साथ जो वायु बाहर जाती है उसे प्रश्वास कहते हैं। प्रश्वास से ही प्राण वहिर्मुख होता है, 'हं' कार जीवात्मा है। मुख्य है। यही मुख्य प्राण जब बाह्य पराङ्मुख होकर वापस लौटता है तो अपान कहलाता है। यह 'सः' कार है। समष्टि शक्ति का रूप है। प्रकृति है।

बाह्य या अन्तर में या नासाग्र की साम्यावस्था में जब मुख्य प्राण, अपान रूप लेता है, वह बिन्दु ही परम योग का क्षण है या स्थल है। यहीं बोध रखना चाहिए। इसी बिन्दु को साधक गुरु कृपा से विभिन्न स्थलों पर पकड़ता है। (जिसे अन्तर्चक्र, बाह्य चक्र या द्वादशांगुल कहा गया है। इस बोध से 'सः' कार एवं 'हं' कार का भेद समाप्त होकर 'हंसः' 'सोहम्' में परिणित होता है। तब (मुख्य) प्राण जो

दायीं या बायीं नाड़ियों में प्रवाहित था वह मध्य में चलने लगता है। यही सुषुम्ना है या ध्यानावस्था है। यह अवस्था ध्यान साधना का प्रथम चरण है, जो सद्गुरु की शक्ति संचार कृपा से सहज ही उपलब्ध हो जाती है और साधक की पात्रता के अनुसार उसी समय आनन्द का अनुभव कराती है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में द्वादशाङ्गुल का परिचय--

१. नासाग्र (सम) (द्वार) नासिका का अग्रभाग या सुषुम्ना (मूल स्थान),
२. दूसरा स्थान हृदय के सामने बाहर की ओर बारह अंगुल,
३. तीसरा स्थान हृदय के अन्दर दोनों सीनों के मध्य,
४. चौथा कण्ठ में,
५. पाँचवाँ सोम चक्र में,
६. छठवाँ सहस्रार में,
७. सातवाँ सहस्रार में (शीर्ष में),
८. आठवाँ नाभि में,
९. मूलाधार में।

भक्ति अखण्ड महायोग के सन्दर्भ में

साधारणतया भक्ति के तीन भेद हैं, साधन, प्रेमा तथा परा। नवधा साधन भक्ति है जो अभ्यासजन्य है। निरन्तर अभ्यास के बाद प्रेमा भक्ति का उदय होता है। तभी भगवत् कृपा से हृदय का अहंकार दूर होकर ज्ञान का प्रकाश होता है। इसके उपरान्त परा भक्ति का उदय होता है। इस प्रयास में अधिक श्रम और समय लगता है। अखण्ड योगी की मीन मार्ग की त्वरित गति हैं, अति सुगम और सहज।

'ज्ञानिहिं भक्तिहिं नहि कछु भेदू', किन्तु जब कहा जाय कि ज्ञान साधन और भक्ति साध्य है तो वहाँ अभिप्राय है परा भक्ति से। परा स्थिति में दर्शन, द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं। देखना सम्भव होता है पश्यन्ती स्थिति में। तब मध्यमा रूप से बोध पश्यन्ती रूपी अनुभूति का साक्षात्कार करता रहता है। लेखनी उसको अति सूक्ष्म वैखरी रूप देकर संसार के सामने प्रस्तुत करती है। अखण्ड महायोग साधना में पराभक्ति के उदय के पश्चात् साधना के चतुर्थ अथवा अन्तिम चरण में साधक अखण्ड सत्ता अथवा सगुण का साक्षात्कार करता है यथा—

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय।

बाबा विशुद्धानन्द की लोक-शिक्षा

(प्रस्तुति–नारायण मिश्र)

योगिराजाधिराज विशुद्धानन्द परमहंस का जगत् के लिए मूल वक्तव्य था—'सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करके उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट पथ में कर्म करना होगा—उसी से यथासमय ज्ञान, भक्ति और प्रेम स्वयं ही उदित होगा, केवल भावप्रवणता अथवा शुष्क ग्रन्थाध्ययन मूलक तर्क-विचार से प्रकृत फल लाभ की आशा नहीं है। कर्म ही एकमात्र अवलम्बन है।' उनके जीवन और उपदेश से कुछ प्रधान शिक्षा प्राप्त होती है—

१. **सदाचार प्रतिपालन :** साधना द्वारा चाहे जितनी भी उन्नति लाभ हो, आचार का अनुवर्तन करना ही होगा। स्वयं आचार के अधीन न होने पर भी लोक-शिक्षा के लिए आचार का पालन अति आवश्यक है।

२. **ब्राह्मण संरक्षण :** वे कहते हैं कि चतुर्वर्ण के मध्य ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है। वर्तमान समय में यद्यपि ब्राह्मण अधिकांश स्थलों में पूर्वगौरव से भ्रष्ट हो गये हैं, तथापि उनका स्वाभाविक महत्त्व जाने का नहीं है। अन्यान्य जाति साधना द्वारा उन्नत होने पर भी—विभूतिसम्पन्न होने पर भी ब्राह्मण द्वारा नमस्य नहीं है। अन्य जाति के लिए ब्राह्मण का प्रणाम-ग्रहण सर्वथा अवैध है। ब्राह्मण के लिए भी कुछ विभूति दर्शन करके अन्य को प्रणाम करना या उसके निकट॰ दीक्षादि ग्रहण करना अनुचित है। ब्राह्मण कर्मभ्रष्ट होने पर भी उपादानगत वा बीजगत महत्व से महीयान है। शास्त्रानुकूल भाव से साधना कर सकने पर उसका दीर्घकाल का आवरण भी स्खलित हो जायगा, तब यथार्थ ब्राह्मणभाव जाग्रत हो जायगा। यज्ञ-सूत्र-त्याग, सन्ध्यावन्दनादि का परिहार, जब-तब फलगु-वैराग्य की अनुप्रेरणा से काषाय-वसन का परिग्रहण—यह सब ब्राह्मण के पक्ष में अनुकरणीय कार्य नहीं हैं। आदर्श ब्राह्मण हो सकने पर सर्वजगत का आधिपत्य भी तुच्छ मालूम होगा। गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करके भी धर्म और ज्ञान के उच्चतम शिखर पर आरोहण किया जा सकता है। आजकल संन्यास-ग्रहण के पक्ष में जो एक प्रबल आन्दोलन चतुर्दिक देखने को प्राप्त होता है, वह अनेकांश में अमूलक है और समाज का अपकारक है। प्रकृत संन्यास अति दुर्लभ वस्तु है, इसका लाभ जो कर सके, वह सत्य ही धन्य है। बाह्य संन्यास एक प्रथा मात्र है। उसकी उपयोगिता है, किन्तु वह न होने पर भी हानि नहीं। विशेष रूप से ऊर्ध्वरेता हुए बिना काषाय-वस्त्र-परिधान अति विपत्ति युक्त कार्य है। गृहस्थाश्रम में रहकर संयत और सत्यपरायण रहना, यथा-विधि स्वीय कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करना, सदाचार पालन करना, भगवान् में विश्वास रखना तथा यथाशक्ति योगाभ्यास करना—इतना होने पर ही जगदम्बा की कृपा से सभी अभाव मिट जायेंगे। ब्राह्मण का विशेष कर्त्तव्य है—ब्रह्मणोचित कर्म करके ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होना।

३. शास्त्र की मर्यादा का पालन : शास्त्र का उल्लंघन करके प्रकृत धर्मलाभ नहीं हो सकता है। यथाशक्ति शास्त्र का अनुशासन मानकर चलने से कभी भी भय की आशंका नहीं रहती। किन्तु जान रखना कि शास्त्र अनन्त है—केवल दो पन्ने संस्कृत पाठ करके स्वयं को शास्त्रज्ञ कहकर अभिमान नहीं करना। योगी के अलावा शास्त्ररहस्य कोई नहीं जानता। अहंकार पतन का मूल है—विनय ज्ञानी का भूषण है। महापुरुषगण भी लोक-व्यवहार में शास्त्र को मानकर चलते हैं। वे लोग शास्त्र के अतीत हैं—तथापि समाज-रक्षा के लिए विधिनिषेध का अनुवर्तन करते हैं। जब तक अन्तर के परमात्मा की साक्षात् वाणी श्रुतिगोचर न होगी, जब तक अन्तरात्मा की प्रेरणा से चालित न हो सको, तब तक बाह्यशास्त्र का अनुसरण अवश्य कर्त्तव्य है। किसी भी शास्त्र की अमर्यादा नहीं करना—सभी अधिकार के अनुसार प्रामाणिक हैं।

४. सर्वदेवों के प्रति समान श्रद्धा-प्रदर्शन : देवता में भेदबुद्धि भगवत्-कृपालाभ में बाधास्वरूप है। कर्म-काल में अपने-अपने इष्ट में निष्ठा रखना किन्तु ज्ञानतः सर्व-देवता को समान कहकर धारणा करना। सब देवता ही ज्ञानी की दृष्टि में एक और अभिन्न हैं। किन्तु ज्ञानोदय के पूर्व सभी को अपने-अपने इष्ट पथ पर ही चलना होगा। इसी से पूर्णतालाभ होगा, अतएव देवतत्त्व विषय में उत्कर्षापकर्ष का विचार मुमुक्षु के लिए अत्यन्त हानि का कारण है। जिसकी जो अपनी भूमि है उसको उसमें ही अवस्थित होना होगा, किसी की भी साधन-पद्धति या आचरण की निन्दा नहीं करना।

५. अभ्यास-योग : आलस्य त्याग करके गुरु द्वारा निर्दिष्ट साधन-क्रम का अभ्यास करना। अभ्यास का माहात्म्य अनन्त है। तपस्या के फल से सिद्धिलाभ अवश्यम्भावी है।

६. चरित्र की विशुद्धि : सभी प्रकार की उन्नति ही चरित्र के उत्कर्ष पर निर्भर करती है। किसी के मन को आघात नहीं देना, इन्द्रियजय करना, मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करना, गुरु में अचल श्रद्धा रखना, धैर्य, क्षमा और करुणावृत्ति का अनुशीलन करना, चित्त सर्वदा ही अनासक्त और प्रशान्त रखने की चेष्टा करना। इन सभी सद्गुणों का विकास प्रकृत आध्यात्मिक उन्नति के लिए अपरिहार्य है।

७. आत्मप्रशंसा और परनिन्दा का परिहार : कभी भी अपने मुख से अपनी प्रशंसा तथा अन्य की निन्दा नहीं करना। दूसरे के कार्य के प्रति अच्छे-बुरे का विचार अवैध है। कौन किस उद्देश्य से किस कार्य में प्रवृत्त होता है, उसके विचार का अधिकार अन्य किसी को नहीं है। साधु सज्जनों की निन्दा अथवा उनके कार्यों की समालोचना एवं देवचरित्र की समालोचना नितान्त गलत है। सरलभाव से आत्म-दोष अन्वेषण करना और उनके संशोधन की चेष्टा करना। कपटता का आश्रय कभी भी ग्रहण नहीं करना। सभी दोषों की क्षमा है किन्तु अहंकार और कपटता अक्षम्य है।

८. मनुष्य में ऐश्वरिक शक्ति का विकास : मनुष्य ईश्वर न हो सकने पर भी ईश्वरभावापन्न हो सकता है—ऐश्वरिक शक्ति की स्फूर्ति उसे हो सकती है। किन्तु यही कहकर उसको अवतार समझ लेना उचित नहीं है। ईश्वर जब अवतीर्ण हो मनुष्य की तरह (अथवा अन्य जीव की तरह) प्रकाशित होते हैं, तब भी जिस प्रकार वे मनुष्य (या अन्य कोई जीव मात्र) नहीं, किन्तु मनुष्य भाव रहते भी वे ईश्वर ही हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी ईश्वर रूप में प्रकाशित होने पर भी मनुष्य ही रहता है, सत्य ईश्वर नहीं होता है। वास्तव में अवतार को मनुष्य समझना जिस प्रकार अन्याय है, उसी तरह मनुष्य को अवतार समझना भी अन्याय है। ●

आत्मा के स्वभाव को जगाना अथवा कुण्डलिनी का जागरण दोनों एक ही बात है। अतएव कुण्डलिनी को जगाकर बाद में उसको अनन्त के मध्य विसर्जन करना होता है—परमशिव के अंग में विलीन या युक्त करना होता है—यही जीव के अमृत लाभ का उपाय है। परमशिव और मुक्त कुण्डलिनी या पराशक्ति के मिलन से नित्य जो सुधास्राव होता है अथवा आनन्द का क्षरण होता है, जीव—मुक्तजीव, वही पान करता है, आस्वादन करता है।

× × ×

स्वभाव सुधा का समुद्र है—वे वे ही हैं। जो उसका पान करता है, वही उसके माधुर्य की उपलब्धि करता है। अपने माधुर्य की स्वयं उपलब्धि करने के लिए अपने को जीव और ईश्वरभाव में विभक्त कर लेना पड़ता है। इसीलिए वे अविभक्त रहकर भी नित्य जीव और ईश्वर रूप में खेल करते हैं। जड़-जगत इस खेल का उपकरणमात्र है। ●

अध्यात्म साधना में जप का स्थान

(१)

वाक्

परा | पश्यन्ती | मध्यमा | वैखरी (बाह्य स्फूर्ति)

समग्र विश्व के विश्लेषण पर
(योग दृष्टि के तीन विभाग)

शब्द (वाचक) | अर्थ (पदार्थ) (वाच्य) | ज्ञान

शब्द अर्थ में वाचक वाच्य का सम्बन्ध है। अर्थ विषय और ज्ञान विषयी— दोनों का विषय-विषयी-बोधक व बोध्य का सम्बन्ध है। अतः शब्द, अर्थ, ज्ञान—तीनों का सम्वन्ध हुआ।

१. वैखरी में शब्द व अर्थ भिन्न हैं, क्योंकि वाच्य वाचक दोनों में भेद है।

२. मध्यमा की स्थिति में शब्द और अर्थ दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध होता है।

३. पश्यन्ती में दोनों में अभेद है। सद्गुरु (जिसने ईश्वर की उपलब्धि कर ली है) द्वारा वृत्ति का अवरोध और अन्तर्मुखी वृत्ति का उदय। मध्यमा में—१. श्वास क्रिया शान्त हो जाती है, २. स्निग्ध ज्योति ऊर्ध्व की ओर उदित होती है, ३. उषा-काल की भाँति समस्त अन्तर प्रकाशित होता है।

४. पश्यन्ती अवस्था में अन्धकार के उस पार इष्ट साक्षात्कार और आत्म साक्षात्कार। वैदिक साहित्य का शब्दब्रह्म तन्त्र का परावाक् है।

(२)

'अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥'

यहाँ तीन तत्त्व दिख रहे हैं, १. चराचर जगत अर्थात् चल, अचल (स्थिर) जगत् का समष्टि रूप जो देखने में अखण्ड मण्डल का आकार लिये है। २. उपर्युक्त जगत् में आत्मा पूर्ण रूप से व्यापक है अर्थात् चर में तथा अचर में आत्मा है और व्यापक होने के नाते उसके बाहर भी एक ही आत्मा रहती है, इसीलिए आत्मा सर्वात्मक और सर्वातीत है। जो व्याप्त है वह शुद्ध आत्मा है, वही जगत् रूप में व्याप्त है। शुद्ध आत्माका पद ही तत्पद है। ३. गुरु अर्थात् (गु–अंधकार व रु–प्रकाश) जो शुद्ध

आत्मपद दिखा दे, वही गुरु है। श्रीगुरु अर्थात् शक्तिसम्पन्न गुरु; क्योंकि बिना शक्ति के वह प्रदर्शन नहीं कर सकते। इससे स्पष्ट है कि बिना गुरु के दिखाये वह नहीं देखा जा सकता, 'बिन गुरु होइ कि ज्ञान'।

(३)

'मन्त्र मूलं गुरोर्वाक्यं ध्यानमूलं गुरोः पदम्। पूजामूलं गुरोर्मूर्तिः मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥' मन्त्र-जप गुरुवाक्य है। ध्यान गुरुचरण हैं, 'श्रीगुरुपद नख मणिगण ज्योती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती'। 'बन्दउँ गुरु पद कंज', 'तिनहि राम पद अति अनुरागा'। 'अब रघुपति पद पंकरुह, हिय धरि पाइ प्रसाद'। पूजा गुरु की मूर्ति की व मोक्ष गुरु की कृपा। अतः पहले गुरुवाक्य अथवा गुरुप्रदत्त मन्त्र जपें। इससे ज्योति प्रस्फुटित होगी, जिसमें चरण प्रकाशित होता है। तब ध्यान चलता है। ध्यान करते-करते गुरु का स्वरूप प्रस्फुटित होता है। उसी स्वरूप की पूजा करनी चाहिए। पूजा करते-करते साधक उस मूर्ति में प्रवेश पाता है—मुक्त हो जाता है।

(४)

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥' गीता १८/६६।

भगवान् यह समझते हैं कि जीव बहुत दुःखी है और चाहते भी हैं कि जीव के दुःख न रहें। दुःख का कारण है जीव के पाप जिनसे वह मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पापों को काटने के लिए वह अनेक धर्मों का आश्रय लेता है। पापों के काटने के लिए आत्मचेष्टा ही प्रधान धर्म है। जीव के दुःख से छुटकारा पाने के लिए भगवान् कहते हैं कि जीव कर्त्तव्य रूप में विभिन्न धर्मों का आश्रय न लेकर एक मात्र भगवान् की शरण में जाय। भगवान् शरण में आये अनन्य भक्तों के सभी पापों का भार लेते हैं। निराश्रय होकर भगवान् की शरण न लेने से वह जीव के सभी पापों का भार नहीं लेते।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज के ९९वें आविर्भाव दिवस पर हार्दिक श्रद्धांजलि

महामनस्वी पूज्यप्रवर कविराजजी के ९९वें आविर्भाव दिवस के पुनीत अवसर पर उन्हीं के द्वारा स्थापित अखण्ड महायोग संस्थान की सुशीतल छाया के नीचे हम सदा की भाँति पुनः उनके प्रति अपनी सुमनांजलि अर्पित करने हेतु एकत्र हुए हैं। मनुष्य के मनुष्यत्व प्राप्त करने की दिशा में उन महामनीषी द्वारा मानव समाज को प्रदत्त अखण्ड महायोग की पद्धति के गम्भीर अनुशीलन एवं तत्प्रति पूर्ण समर्पित भाव ही उनके प्रति सच्ची एवं सार्थक श्रद्धांजलि होगी। ज्ञान के विविध क्षेत्रों में उनकी अप्रतिम पैठ तो उनके व्यक्तित्व का एकांश रूप ही था, वास्तविक स्वरूप तो उनका हमें तब देखने को प्राप्त होता है, जब इस धरातल पर ज्योतिर्मय ज्ञानराज्य की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में उनके कृतित्व का दिग्दर्शन होता है।

पूज्य कविराजजी का अभीष्ट अखण्ड महायोग था। उनके द्वारा नाना सम्प्रदायों में व्याप्त विभिन्न आध्यात्मिक धाराओं एवं निहित तत्वों के अनुशीलन तथा विभिन्न साधना पद्धतियों के विवेचन की पृष्ठभूमि में सर्वत्र अखण्ड महायोग का दर्शन ही परिलक्षित होता है।

अपने लौकिक शरीर के संकोच के बीस वर्ष पूर्व उन्होंने अखण्ड महायोग के दर्शन को ग्रन्थ का आकार अपने पूज्य सद्गुरु के आदेश पर प्रदान किया था। अखण्ड महायोग को दर्शन नामकरण देते हुए संकोच लगता है। वास्तव में यह उनकी अपनी साधना पद्धति एवं उनकी चरम परम उपलब्धि है। जगत कल्याणार्थ मानवमात्र को जो वे मूल सन्देश देना चाहते थे, उसका विज्ञान एवं तात्त्विक विवेचन इस ग्रन्थ में ही निहित है। उनकी परम इष्ट माँ है। उनके ही शब्दों में "माँ का एकमात्र परिचय है कि वे माँ हैं। वे परमाप्रकृति नहीं, वे पुरुष नहीं, यहाँ तक कि परमेश्वर भी नहीं—मात्र माँ हैं। देवी, महादेवी, भगवती नहीं, सिर्फ माँ हैं—निरुपाधिक माँ। वे जीवों की भी माँ हैं, सबकी माँ हैं।"

अखण्ड महायोग ग्रन्थ रचना के सन्दर्भ में उनका निवेदन है कि, "यह ग्रन्थ किसी अभिनव दार्शनिक तत्व की आलोचना के लिए नहीं, यह ग्रन्थ माँ के स्वरूप को उद्घाटित करने या बतलाने के लिए भी नहीं है अपितु असमय में कोई माँ को पुकारना न भूले, इस अनुरोध को संसार के समक्ष निवेदन करने हेतु इस ग्रन्थ की रचना हुई है।"

अखण्ड महायोग का सूत्रपात करके पूर्वार्द्ध की साधना के उपरान्त पूज्य कविराजजी के सद्गुरु योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्दजी परमहंसदेव ने प्रयोजनवश शरीर का संकोच किया। इसके बाद अखण्ड महायोग का उत्तरार्द्ध कर्म

गुरुदत्तकाय अर्थात् जागृत कुण्डलिनीसम्पन्न पूज्य कविराजजी द्वारा पूर्ण हुआ। पूज्यचरण बाबा विशुद्धानन्दजी चाहते थे कि गुरुदत्तकाय सम्पन्न सन्तानगण कर्म पूर्ण करके उस वस्तु को जगत में प्रकाशित करें। उनकी आशा थी—सन्तान उनके निर्देश से स्वयं कर्म करेंगे एवं अन्य को भी प्रवृत्त करेंगे। वे कर्मपिपासु थे। उनके महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक सन्तान को अपना कर्म करना होगा और अन्य से भी कराना होगा। वे जानते थे कि जब तक कर्म पूर्ण नहीं होगा, विज्ञान का अवतरण सम्भव नहीं और तब तक अखण्ड महायोग सिद्ध नहीं होगा। इस महा-उद्देश्य को कार्य में परिणत करने के उद्देश्य से सभी **सन्तानों को यथाशक्ति जीवन्त मातृशक्ति की मातृ रूप से धारणा करना, उन्हें पुकारना और मातृ ज्ञान आवश्यक** है। जीवन्त मातृशक्ति का अधिष्ठान है—अक्षत ब्राह्मण कुमारी।

अतएव सेवा और कर्म का माहात्म्य कीर्तित है। सेवा के फलस्वरूप भावशुद्धि होती है। कर्म द्वारा योगपथ का अन्तराय इरीभूत होता है। योगपथ का उद्यापन कर, ज्ञान के साथ भाव का (प्राण के साथ मन का) समन्वय करना होगा। इस समन्वय से परम वस्तु प्रकाशित होगी। केवल प्रकाश ही होगा, ऐसी बात नहीं, वरन् उसके साथ योग स्थापन होगा। सान्निध्य एवं परमशक्ति की प्राप्ति भी होगी। मरदेह में अमरत्व का अवतरण होगा। यही है,अखण्ड महायोग की कर्मपद्धति।

समष्टि का कर्म पूर्णता को प्राप्त हो चुका है तथापि व्यष्टि कर्म अभी भी कुछ अंशों में अवशिष्ट है। जब तक पूर्णांश में यह सम्पादित नहीं हो जाता, अखण्ड महायोग सिद्ध नहीं होगा, जगत के प्राणियों के अन्तस्तल में विद्यमान वेदना एवं आर्तभाव समाप्त नहीं हो सकता। बाह्यतः चाहे जितना भी आनन्द हो, जगत के समस्त प्राणी अन्तस्तल में अभाव की एक अव्यक्त वेदना से व्याकुल हैं। इस विश्वव्यापी आर्ति को दूर करने का एक मात्र उपाय है—कर्म जगत के प्राणियों को शिशु-भावापन्न होकर माँ की पुकार करना। प्रकृत माँ की पुकार वास्तव में गुरुगम्य है। इस हेतु प्रथमतः मातृशक्ति की मातृ रूप में धारणा, द्वितीयतः उनकी पुकार और अन्त में मातृ शक्ति का ज्ञान आवश्यक है। अन्धकार का कर्म पूर्ण हो गया है। इस समय सबको आत्मरूप की प्राप्ति कर लेना आवश्यक है। इस प्राप्ति से माँ के मातृ स्वरूप में परिस्फुट शक्ति का विकास होगा। इसके लिए पुरुषकार रूप कर्मठ शिशु की आवश्यकता है अर्थात् सरल भाव से माँ को पुकारना आवश्यक है, साधारण जीव के लिए यह सरल पथ है, वह केवल पुकार कर माँ का सान्निध्य प्राप्त करेगा। ●

आत्म क्रियायोग--तान्त्रिक ध्यान प्रणाली

मानव जीवन का परम लक्ष्य है आत्मसाक्षात्कार, सर्वदुःखनिवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति, आध्यात्मिक साधनों का आधार ही इस लक्ष्य की पूर्ति करता है, एक सिद्ध सद्गुरु शक्तिपात अथवा स्पर्श, शब्द, दृष्टि या संकल्प द्वारा साधक की इस अन्तर्शक्ति का जागरण कर सकता है।

योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव जीव के उपासक थे। उन्होंने मरदेह में अवस्थित हो चिरकाल तक साधना की। उनका लक्ष्य था—किस प्रकार मरदेह मृत्युर्वजित होकर चिदानन्दमय नित्य देह में परिणित हो सके। उन्होंने मनुष्यत्व की साधना की अतः उनके लिए मनुष्यत्व साध्य था। उनकी कामना थी, मनुष्य विज्ञान के पथ पर अग्रसर होकर अन्त में विज्ञानस्वरूप में अवस्थित हो। बाबा की इच्छा थी अखण्ड ब्रह्मराज्य की स्थापना करना। अखण्ड ब्रह्मराज्य विज्ञानमय जगत् का नामान्तर है। इसी का नाम है सूर्यविज्ञान जिसके लिए बाबा का जगत् में अवतरण हुआ था।

इस शताब्दी के श्रेष्ठतम विद्वान् सन्त महातन्त्र योगी महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज को बाबा का अन्यतम शिष्यत्व प्राप्त हुआ। पूज्य बाबा द्वारा प्राप्त आत्म क्रिया योग को इस विश्वविश्रुत मनोषी ने अपने गम्भीर चिन्तन तथा प्रवुद्ध साधना से अत्यधिक परिष्कृत, वैज्ञानिक तथा सहज बनाया तथा विश्वव्यापी सभी उल्लेखनीय साधना पद्धतियों को सम्मिलित किया।

पूज्य बाबा से प्राप्त आध्यात्मिक सम्पदा को 'अखण्ड महायोग' नामकरण देकर श्री कविराजजी ने मुखरित कर मानव मात्र के लिए इसे सुलभ बनाया। श्रीगुरु द्वारा इन्हें दीक्षा का भार नहीं दिया गया था अतः इन्होंने अपने जीवन सहचर दादा सीताराम को मानस पुत्र के रूप में लोक कल्याणार्थ अपनी आध्यात्मिक सम्पदा उदारता के साथ दी। दादाजी स्नेह से प्राप्त उस अमूल्य सम्पदा को निष्काम भाव से सभी धर्म व मतावलम्बी जिज्ञासु सुहृदजनों में मुक्त हस्त, अतिशय करुणावश बाँट रहे हैं।

आत्म क्रियायोग की इस पुरातन अथच चिरनवीन निरपेक्ष साधना से बहुतों को आनन्द की प्राप्ति हुई है और उन्होंने अध्यात्म पथ प्रशस्त कर लिया है। साधना के चार क्रम हैं जिनसे साधक अपनी अखण्ड सत्ता का साक्षात्कार कर सकते हैं।

मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी का उत्थान या दैवी शक्ति का अवतरण दोनों ही कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया हैं।

१. सुषुम्ना की साधना—

साधना के माध्यम से साधक को सुषुम्ना की पहचान एवं प्रवेश करा कर उसीके आश्रय से आगे बढ़ाना।

२. मणिपुर से सहस्त्रार तक की क्रिया—

नाभि से सहस्त्र दल तक की सूक्ष्म गति का अनुभव व उसमें स्थित होना। आत्म क्रिया ध्यान प्रणाली में जाग्रत कुण्डलिनी का मूलभूत दान दिया जाता है। अलग से कुण्डलिनी जाग्रत नहीं करनी पड़ती।

३. मन की संकल्पक्रिया का रोध करना—

'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः' [पा० योग सू०] चित्तवृत्तिनिरोध की कला समझना।

४. साधक को अपनी अखण्ड सत्ता का साक्षात्कार करना—

यह लुप्तप्राय 'आत्म क्रियायोग' बाबा की कृपा से तथा कविराजजी की अथक साधना से पूर्ण विकसित हुई है। इसका आध्यात्मिक लाभ इस शताब्दी की एक उत्कृष्ट देन है, जिससे सभी जिज्ञासु इस ध्यान प्रक्रिया से पूज्य दादाजी की अहैतुकी कृपा से कृतकृत्य हो रहे हैं। गीता और मानस में इस पद्धति का विश्लेषण है जो 'ध्यान मूर्ति हनूमान' में अन्तर्निहित मिलेगा।

"हिन्दुत्व एक सनातन धारा है, जिसमें व्यष्टि नहीं, समष्टि के रूपान्तरण का चिन्तन है। योगिराज अरविन्द की भावधारा को आगम तन्त्र के उद्धारक परातन्त्र के शाक्ति तान्त्रिक कविराज जी ने "अखण्ड महायोग" की प्रक्रिया पूर्ण कर विशेष गतिविधि दी है। यही अरविन्द के योग में तन्त्र का समन्वय है जिसकी क्रिया अब भी वातावरण में कार्यरत है। यही इक्कीसवीं शताब्दी में हिन्दुओं द्वारा स्वर्ण-युग के सूत्रपात की भविष्यवाणी चरितार्थ करेगी।"

"श्री कृष्ण की महारास लीला नित्य है, शाश्वत है तथा नित्य नूतन और अखण्ड है। "नित्य धाम वृन्दावन स्याम, नित्य उपराधा व्रज वाम–नित्य रास रस नित्य विहार, नित्य भाव संहिताभिसारि"– समष्टि मुक्ति के निमित्त आयोजित इस शताब्दी की योग तान्त्रिक प्रक्रिया "अखण्ड महायोग" रास लीला तत्त्व की ही चरम परिणति है। "अखण्ड महायोग" का सफल क्रियान्वयन का मुख्य आधार था "कुमारी सेवा"। उनका कहना है कि महाप्रलय के समय समष्टि सृष्टि भंग हो जाती है। प्रकृत प्रलय के बाद अभिनव सृष्टि की सम्भावना नहीं रह जाती। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" यह सत्य है, किन्तु प्रलय के साथ अथवा प्रलय के पूर्व चिदानन्दमय संसारहीन और मृत्यु-हीन नित्य सृष्टि की सम्भावना नहीं रह जाती। "अखण्ड महायोग" में जो होगा, उसमें काल का सम्यक अपसारण एवं तत्पश्चात् उसकी आत्यन्तिक निवृति के साथ-साथ कालहीन नित्य सृष्टि का उदय होगा। दोनों में यही पार्थक्य है।"

–इसी पुस्तक से

मूल्य : चालीस रुपये